फूल नहीं रंग बोलते हैं

केदारनाथ अग्रवाल

फूल नहीं, रंग बोलते हैं

केदारनाथ अग्रवाल

साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-191-5

❀

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद-3

दूरभाष : 2400787, 2402072

❀

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

❀

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

❀

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009

❀

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

❀

अक्षर-संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद-2

❀

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद-3

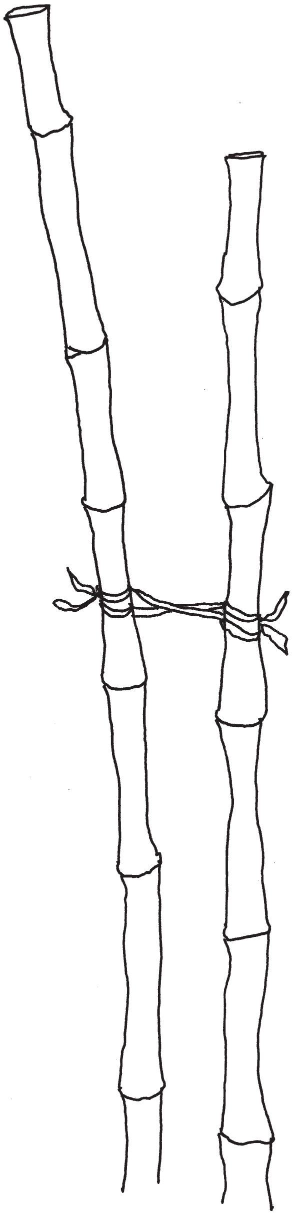

मूल्य : 250.00 रुपये मात्र

फूल नहीं, रंग बोलते हैं

प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल
2009

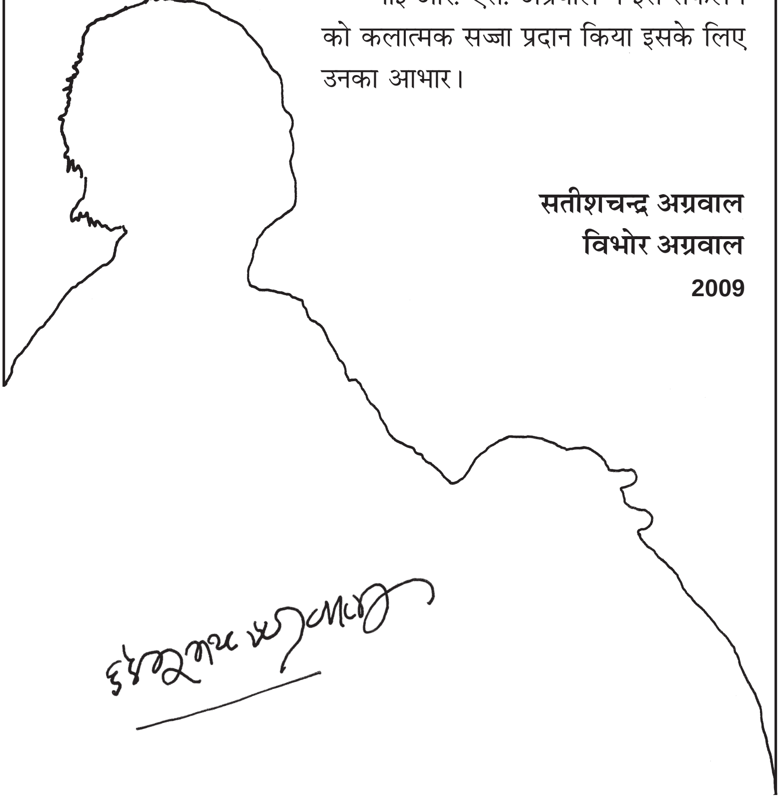

केदारनाथ अग्रवाल

मेरी ये कविताएँ

प्रस्तुत संकलन में संग्रहीत मेरी सभी नयी और पुरानी कविताएँ एक स्थान पर एक साथ मिलेंगी। इस संकलन की यही उपादेयता है।

पहले भी मेरे तीन काव्य-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। अब उनमें से एक भी उपलब्ध नहीं है। यह संकलन उस कमी की पूर्ति करता है। इसमें वे कविताएँ भी हैं जो उन संकलनों में थीं। कुछ हैं—सब नहीं।

इस संकलन में कविताओं का रचना-काल भी दे दिया गया है। इससे सहृदय पाठकों को मेरे कृतित्व का विकास-क्रम सहज ही प्राप्त हो सकेगा। इस विकास-क्रम के बल पर मेरे कृतित्व का ऐतिहासिक मूल्यांकन भी हो सकेगा।

कविताओं का चयन इस दृष्टि से किया गया है कि मेरे अब तक के पूरे कृतित्व का पूरा बोध-चित्र इस संकलन द्वारा प्राप्त हो सके।

इस संकलन का नाम इसी में संग्रहीत एक कविता के नाम पर रखा गया है।

मैं नहीं बता सकता—न मुझे याद है—कि इन कविताओं की रचना किन परिस्थितियों में हुई थी। इस अभाव के बावजूद मेरी प्रत्येक कविता मेरी तत्कालीन रचना-प्रक्रिया को थोड़ा-बहुत अवश्य व्यक्त करेगी। मैं इस रचना-प्रक्रिया की खोज का दायित्व अपने पाठकों पर छोड़ता हूँ।

बहुत पहले, मैं जो लिखना चाहता था वह नहीं लिख पाता था। कठिनाई होती थी। कविता नहीं बन पाती थी। कभी एक पंक्ति ही बन पाती थी। कभी अधूरी ही पड़ी रह जाती थी। तब मैं अपने में कवित्व की कमी समझता था। खीझकर रह जाता था। औरों को धड़ल्ले से लिखते देखकर अपने ऊपर क्षुब्ध होता था। मौलिकता की कमी महसूस करता था। तब मैं यह न जानता था कि कविता भीतर, बनी-बनायी नहीं रखी रहती। मैं समझता था कि वह कवि के हृदय में—मस्तिष्क में—

सहज-सँवरे रूप में पहले से रखी रहती है। प्रतिभावान कवि उसे भीतर से बाहर ले आता है। कितना गलत था मेरा विचार! कितनी गलत थी मौलिकता की मेरी धारणा!

जैसे-जैसे समय बीतता गया, मैं विचार और विवेक में बढ़ता गया और गलत से सही की ओर चलता गया। यथार्थ और वास्तविकता को क्रमशः समझता गया। यह समझ और जीवन-दृष्टि संघर्ष और द्वन्द्व से आयी। अपने इन्द्रिय-बोध से मैंने बहिर्जगत् का ज्ञान प्राप्त किया। मेरा इंद्रिय-बोध मेरे हृदय और मस्तिष्क में पहुँचा। जहाँ उद्वेल हुआ। अनुभूत जीवन से बने व्यक्तित्व से, उस उद्वेल में, मेरे इंद्रिय-बोध का सम्पर्क हुआ और वह उससे समन्वित हुआ। उस सम्पर्क और समन्वय के समय मेरा इंद्रिय-बोध एक दिशा पाने लगा। आकार और प्रकार में परिवर्तित होकर वह अस्पष्ट से स्पष्ट और अमूर्त से मूर्त की ओर प्रयाण करने लगा। बाहर से आया हुआ ज्ञान भीतर के ज्ञान से गुम्फित होने लगा। वहाँ स्थित शब्द-संकेत उसे मिले। वह उनसे जुड़ गया। जुड़कर अर्थवंत हो गया। छंद में शिल्पित होकर वही बाहर निकल आया। यही कविता हुआ। मेरी कविताएँ इसी रचना-प्रक्रिया से समझ लेना जरूरी होता है। इसी में मैंने ऊपर, सूक्ष्म में, उस प्रक्रिया का वर्णन किया।

मेरी कविताओं में मेरा अनुभूत व्यक्तित्व तो है ही। साथ ही साथ उसमें युग-बोध और यथार्थ-बोध भी है। प्रत्येक कविता आत्मान्वेषिणी होते हुए भी यथार्थान्वेषणी भी है। एक ओर वह व्यक्तित्व में भरपूर डूबी हुई है। दूसरी ओर वह व्यक्तित्व से हटी हुई—तटस्थ—भी। उसकी तटस्थता उसकी सिद्धि है और वही तटस्थता उसे मेरे व्यक्तित्व से बाहर, काव्य-क्षेत्र में जीवित रखती है। वहाँ पहुँचकर वह दूसरे की हो जाती है। वह दूसरा उसे ग्रहण करता है और अपने भीतर ले जाता है। वहाँ-भीतर—वह रचना-प्रक्रिया नहीं होती जो मुझे भोगनी पड़ी थी। पाठक तो मूर्तमान कविता पाता है और वह उसके समग्र वस्तु और शिल्प से मुग्ध होता है। कवि की स्थिति से पाठक की स्थिति भिन्न होती है। कविता के पहले कवि को पूरी प्रक्रिया भोगनी पड़ती है और तब वह कविता पाता है और अपने कृतित्व का आस्वाद लेता है। पाठक या श्रोता को भोगने की पूरी प्रक्रिया की पीड़ा से वंचित रहना पड़ता है। वह उपलब्धि का आस्वाद लेता है। और कुछ नहीं करता।

आस्वाद की भी एक प्रक्रिया होती है। वह कृतिकार की प्रक्रिया से भिन्न होती है। आस्वाद की प्रक्रिया में, चाहे वह जैसी हो, कृतिकार और पाठक (या श्रोता) दोनों सह-आस्वादी होते हैं।

इसीलिए बाहर आयी कविता को मँजी होना चाहिए। उनका रूप-निखार, उसका शिल्प उसे अधिक काल तक जीवित रखता है। वह दीर्घजीवी होती है। क्षण की कविता क्षणिक होती है—जल्दी मर जाती है।

मेरी कविताओं में शिल्प का सौन्दर्य मिलेगा। वह सौन्दर्य उसके स्थापत्य के शिल्प का सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य अनेक भाव-भंगिमाओं से अपने को व्यक्त करता है। उसकी अभिव्यक्ति अनेकरूपिणी है। जैसे हर सबेरा एक नए सौन्दर्य का सबेरा होता है,वैसे मेरी हर कविता एक नये सौन्दर्य की कविता होती है।

मैंने प्रकृति को चित्र के रूप में देखा है। उसके सम्पर्क में मुझे जीने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। अतएव प्रकृति का मेरा निरूपण चित्रोपम निरूपण है। उसमें कलाकारिता है। शब्दों का सौन्दर्य है। ध्वनियों की धारा है। कहीं-कहीं 'क्लासकीय' अभिव्यक्ति है। 'वसन्ती हवा' में अवश्य गति और वेग है। 'खजुराहो के मंदिर' का सौन्दर्य वहाँ के स्थापत्य का सौन्दर्य है। वहाँ भी 'क्लासकीय' तत्वों का संघटन है।

मैंने युग-बोध को भी पकड़ा है। कहीं मैंने उसे उसके सहज रूप में ही यथार्थपूरक रखकर ऊपर उभारा है। कहीं मैंने उसके यथार्थ को सौन्दर्य के शिल्प से सँवारकर अभिव्यक्ति दी है। मैं समझता हूँ कि मैंने यह गलत काम नहीं किया। मेरे इस प्रयास से यथार्थ का अनगढ़पन कम हुआ है और वह सँवरकर अधिक ग्राह्य हो गया है। कुरूपता चाहे जितनी सत्य हो, उसका उसी रूप में निरूपण कृतित्व का ध्येय नहीं हो सकता। कृतित्व में यही कुरूपता जीती है जो कृतित्व के शिल्प-सौन्दर्य से अभिषिक्त होती है। मैंने अपने इस संकलन में अनगढ़ यथार्थ की और गढ़े यथार्थ की—दोनों प्रकार की कविताएँ दी हैं। इससे तुलनात्मक अध्ययन में—परख में—अधिक सहायता मिलेगी।

मैंने गीत भी लिखे हैं, वह भी दिये हैं। लोग कहते हैं : कम होते हुए भी महत्वपूर्ण हैं। इनके विषय में मेरा कुछ कहना उचित न होगा।

केवल इतना कहूँगा कि मेरे गीत लोक-मानव के हृदय के गीत है। न वे गायकी के गीत हैं, न साहित्यिक उपलब्धियों के गीत हैं।

सूक्ष्म संवेगों की मेरी कविताएँ सूक्ष्म हैं। उन्हें बड़ी करना गलत होता। कहीं वे छन्दबद्ध हैं। कहीं मुक्त छन्द में हैं। उनके लिए मैंने नहीं, संवेगों ने ही लय और रूप खोजा है। वे इसलिए नहीं लिखी गयीं कि उनसे रस का पूरा आस्वाद मिले। यदि वे रस न दें तो यह उनकी नहीं, मेरी मेहरबानी होगी।

नयी कविता के इस युग में छंद छोड़ दिये गये हैं। गद्य के निकट की लय अपना ली गयी है। यह सब ठीक है। मैं यहाँ इसके औचित्य और अनौचित्य पर विचार न करूँगा। इस संकलन की छंद-बद्ध कविताएँ शायद नये बुद्धिवादियों को अच्छी न लगें। स्वाभाविक भी है। लेकिन उनको देना-प्रतिनिधि संकलन में रखना—जरूरी था। इसलिए दे दी गयी हैं। इनके अतिरिक्त और भी लोग हैं जो छंद-बद्ध कविता को ही कविता समझते हैं और पसंद करते हैं। बुद्धिवादियों के लिए मेरे इस संकलन में काफी कविताएँ हैं। वे उन्हें पढ़कर मेरे कृतित्व का मूल्यांकन कर सकते हैं।

अन्त में मैं संग्रह के प्रकाशक श्री शिवकुमार सहाय का आभारी हूँ कि उन्होंने इस संकलन के प्रकाशन का संकल्प किया और इसे प्रकाशित किया। श्री बद्रीनाथ तिवारी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने अपना श्रम और समय देकर इसकी पूरी रूपरेखा तैयार की और इसे अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया। श्री इकबाल बहादुर श्रीवास्तव (अजित पुष्कल) और श्री कृष्णमुरारी पहाड़िया भी मेरी कृतज्ञता के पात्र हैं। उन्होंने भी अपना योग दिया है। मैं श्री भगवानदास गुप्त का भी कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने यह संकलन प्रकाशित कराने के लिए विवश कर दिया।

बाँदा — **केदारनाथ अग्रवाल**

2 अक्तूबर, 1965

अनुक्रम

कविता का शीर्षक या पहली पंक्ति	रचना-तिथि	पृष्ठ
वल्लरी तुम, धूप तुम, हवा तुम		**15-64**
चंद्रगहना से लौटती बेर		17
बसन्ती हवा		20
घन-जन		23
दो जीवन		24
माँझी न बजाओ वंशी		25
धीरे उठाओ मेरी पालकी		26
नाव मेरी पुरइन के पात की		27
टूटें न तार तने		28
चाँद-चाँदनी		29
प्रात-चित्र		30
खेत का दृश्य		31
धूप का गीत		32
कंचन-किरणें	26 अगस्त, 1955	33
उदास दिन	25 मार्च, 1956	34
मानव के अग्रज	18 अप्रैल, 1956	35
अब देखा है	30 दिसम्बर, 1956	36
वसंत	15 जनवरी, 1957	37
तुम्हें	24 फरवरी, 1957	38
मन्मथ वसंत	25 फरवरी, 1957	39
वे किशोर नयन	28 फरवरी, 1957	40
बालक ने	5 अक्टूबर, 1957	41
गाने के लिए गया	1957	42
आँखों देखा	1957	43
एक खिले फूल ने	24 अक्टूबर, 1957	44

वन की प्रकृति वामा 27 जनवरी, 1958 45
संगमरमर का सबेरा और हम 23 मार्च, 1958 46
आज नदी बिल्कुल उदास थी 23 मार्च, 1958 47
पत्थर भी बोलते हैं 23 मार्च, 1958 48

आठ छोटी कविताएँ

लिपट गयी जो धूल पाँव से 25 मार्च, 1958 49
ऐसे जैसे किरन 26 मार्च, 1958 49
तुम भी कुछ हो 25 मार्च, 1958 49
चील्ह 24 मार्च, 1958 50
मैं बादल हूँ 24 जून, 1958 50
धूप नहीं, यह 5 जून, 1958 50
यह जो 7 जून, 1958 50
यह पठार जो जड़ बीहड़ था 14 जून, 1958 51
आज धूप जैसे हो आयी 20 जून, 1958 51
हे मेरी तुम सोयी सरिता! 21 जून, 1958 53
हे मेरी तुम उन्मुख वीणा! 21 जून, 1958 54
जब आषाढ़ी बादल आयें 21 जून, 1958 55
हे मेरी तुम! बिना तुम्हारे 23 जून, 1958 56
दीप की लौ–से दिन 25 जून, 1958 57
रात 25 जून, 1958 58
पक्षी दिन 25 जून, 1958 59
अंधकार की चुप्पी में 26 जून, 1958 60
भिक्षुक दुख 26 जून, 1958 61
दिवस शरद के 17 दिसम्बर, 1958 62
धूप 17 जनवरी, 1959 63
शर्त 1959 64
अस्थि के अंकुर 65–104
अस्थि के अंकुर 15 सितम्बर, 1949 67
सबके लिए 19 अप्रैल, 1959 68
आज 69
देश की आशाएँ 70
कानपुर 71
बुन्देलखंड के आदमी 73

पैतृक सम्पत्ति 74
कटुई का गीत 75
मोरचे पर 1948 76
लेखक की स्वतंत्रता 1957 79
लौह का घन गल रहा है 81
गाँव का महाजन 82
हथौड़े का गीत 83
मैं 84
नागार्जुन के बाँदा आने पर 85
खंडहर का सुनसान 10 जुलाई, 1956 91
हम उन लहरों के समान हैं... 20 दिसम्बर, 1956 92
हम न रहेंगे— 10 मार्च, 1958 93
रोटी के पैदा होते ही 24 मार्च, 1958 94
मैं घोड़ों की दौड़... 95
धोबी गया घाट पर 96
तेज धार का कर्मठ पानी 97
मैंने उसको.... 98
कंकरीला मैदान 31 मार्च, 1958 99
छुटी का घंटा बजते ही 28 नवम्बर, 1958 100
वह चिड़िया जो— 28 नवम्बर, 1958 101
हवा आयी 2 सितम्बर, 1959 102
मर जाऊँगा तब भी... 19 अप्रैल, 1959 103
मार देखो 20 अगस्त, 1959 104
रंग बोलते हैं **105–144**
फूल नहीं— 30 अक्टूबर, 1959 107
हो, न हो तुम्हें 30 अक्टूबर, 1959 108
नीम के फूल 22 अक्टूबर, 1959 109
वसन्त आया 22 अक्टूबर, 1959 110
मेघ गये और गये नाचते मयूर 26 अक्टूबर, 1959 111
हमारी आँखे... 31 अक्टूबर, 1959 112
तुम साथ थे 2 नवम्बर, 1959 113
समुद्र वह है 14 नवम्बर, 1959 115
हम हैं वहाँ 14 नवम्बर, 1959 116

नाव बाँधकर 15 नवम्बर, 1959 117
शब्दों की कतार के पीछे 15 नवम्बर, 1959 118
सब से आगे 15 नवम्बर, 1959 119
हमारे रंगीन बसन्ती फूलों की 16 नवम्बर, 1959 120
जब कोई कहता है मुझसे 17 नवम्बर, 1959 121
नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है 17 नवम्बर, 1959 122
केन किनारे 17 नवम्बर, 1959 123
न छुए आकाश मुझे 21 नवम्बर, 1959 124
असीम सौन्दर्य की एक लहर 21 नवम्बर, 1959 125
इकला चाँद 21 नवम्बर, 1959 126
दूब सिहरी 22 नवम्बर, 1959 127
छाँह की छतुरी फटी 22 नवम्बर, 1959 128
अकथ्य को हमने कहा नहीं 22 नवम्बर, 1959 129
आओ भी, चलें 23 नवम्बर, 1959 130
टुइयाँ थी एख चतुर बोल गयी 23 नवम्बर, 1959 131
दर्द था एक 23 नवम्बर, 1959 132
दल-बँधा मधुकोष-गन्धी फूल 30 नवम्बर, 1959 133
ओस के संवेद्य मौनाकाश में हो 1 दिसम्बर, 1959 134
एक बड़ी-सी नीली चिड़िया 1 दिसम्बर, 1959 135
हम यहीं रहते हैं 1 दिसम्बर, 1959 136
ठहर जाओ 8 दिसम्बर, 1959 137
चम्पई आकाश तुम हो 20 दिसम्बर, 1959 138
न कुछ, तुम एक चित्र हो 14 जनवरी, 1960 139
न भूलेगी मुझे 25 जनवरी, 1960 140
यही कहूँगा— 29 फरवरी, 1960 141
अरबी घोड़े पर सवार 26 जनवरी, 1960 142
छाँह छोड़कर चल दूँगा मैं 10 नवम्बर, 1960 143
पड़ गया है कनक-कामिनी नदी में 25 सितम्बर, 1960 144
कुछ लिखी-अधलिखी कविताएँ 145-200

आग और बर्फ की वसीयत

मैं हूँ 1 फरवरी, 1961 147
मशाल का बेटा धुआँ 25 फरवरी, 1960 147
हम पात्र हैं किसी के 30 सितम्बर, 1960 148

आस्था का शिलालेख	6 जनवरी, 1961	148
बाँध अमल आलोक अलक से	18 जनवरी, 1961	149
कैसे जिएँ कठिन है चक्कर	18 जनवरी, 1961	149
आवरण के भीतर...	1 फरवरी, 1961	149
तुम मिलती हो	8 अप्रैल, 1961	150
शाम चल दी	8 अप्रैल, 1961	150
बादल ने मार दी बरछी	1 अप्रैल, 1961	150
भोगने दो मुझे	20 अक्टूबर, 1960	151
रंग नहीं	20 अक्टूबर, 1960	152
खिला है अग्निम प्रकाश	19 अक्टूबर, 1960	152
वेतन	13 जून, 1961	153
सिसकती चिड़िया...	16 जुलाई, 1961	153
काल बँधा है	16 जुलाई, 1961	153
तड़पती केन	16 जुलाई ,1961	154
हवा	16 जुलाई, 1961	154
चोली फटी सरस सरसों की	13 अक्टूबर, 1961	154
रंग रोरे	21 अक्टूबर, 1961	155
सिंह अपाली नाज	23 जुलाई, 1961	155
गींज गये कपड़ों-सा...	31 जुलाई, 1961	156
आओ न	1 अगस्त, 1961	157
हम जियें न जियें दोस्त	8 अगस्त, 1961	157
वह कवि था, कवियों में रवि था	19 अक्टूबर, 1961	158
ऊपर ऊपर	10 नवम्बर, 1961	159
तन में बसी साँस		159
पलाश	23 नवम्बर, 1961	160
हँस रहा है उधर	10 सितम्बर, 1962	160
आतप-तपी सुमेरु-शरीरा	8 जनवरी, 1962	161
नूतन का आलोक	9 जनवरी, 1962	162
धूप में गड़ा धन कौन पायेगा	25 फरवरी, 1960	162
अविराम बज रही हैं ब्राजन स्वरों से		163
न टूटो तुम	2 मार्च, 1961	163
न बुलाओ तुम मुझे	26 जुलाई, 1961	163
दिन झर गया	2 जनवरी, 1962	164

हमने जितनी बार पुकारा	5 जनवरी, 1962	165
रची उषा ने ऋचा दिवा की	12 जनवरी, 1961	165
क्षण के संरक्षण के सनकी	14 जनवरी, 1962	165
याद?	26 जनवरी, 1962	166
यह ठगौरी ठाठ	19 फरवरी, 1962	166
मेरे मन की नदी	4 सितम्बर, 1962	167
देर हो गयी है...		167
वायु चली अविजेय सैन्य की	31 अक्टूबर, 1962	168
सहज खोले अतीन्द्रिय सुगन्ध के केश	31 अक्टूबर, 1962	168
अन्धकार में खड़े हैं	31 अक्टूबर, 1962	169
सिन्धुग्राही मौन धीरज की बनी	31 अक्टूबर, 1962	169
घर के बाहर खड़ी नीम की...	12 नवम्बर, 1962	170
हरी घास का बल्लम	14 नवम्बर, 1962	170
जल रहा है	4 नवम्बर, 1962	171
चिलम पी रहा है	4 नवम्बर, 1962	171
जलाशय के		171
तरल कोर के	1957	172
आँख खुली		172
छिपी भी	20 अक्टूबर, 1960	173
घंटियों की आवाज से घायल		174
जैसे कोई सितारिया...	20 अक्टूबर, 1960	174
नदी से दूर एक सिन्धु हैं समतल		175
लुढ़कता रहा हूँ मैं...		175
मैंने खोला....	1 नवम्बर, 1960	176
नहीं आया जहाँ कोई नृत्य करने	23 नवम्बर, 1960	176
दिन है कि	9 जनवरी,1961	177
देर लगा दिये हैं हमने	26 जनवरी, 1961	177
बजते उन्हीं के अब नगाड़े हैं	24 जुलाई, 1961	177
चोली फटी सरस सरसों की	13 अक्टूबर, 1960	178
पेड़ अमावस के अंधकार में लोप	30 अक्टूबर, 1959	178

विपर्यस्त दिशाएँ

चक्र चल रहा है वेग से...	1962	179
आग नाव में भरकर सूरज...	30 अक्टूबर, 1962	179

धूप पिये पानी लेटा है...	30 अक्टूबर, 1962	179
प्राप्य से परे अप्राप्य की ओर...	29 मार्च, 1963	180
पड़ने को पड़ गयी है	27 अप्रैल, 1963	180
तरंगित सर्प	29 मार्च, 1963	181
तुम्हें पाने के लिए	10 अक्टूबर, 1963	181
तुम मेरे लिए नहीं...	10 अक्टूबर, 1963	181
कोई है कि देखे	10 अक्टूबर, 1963	182
सलीब	10 अक्टूबर, 1963	182
ऐसा भी हुआ है कभी	17 अक्टूबर, 1963	182
शमशेर—मेरा दोस्त!	15 अक्टूबर, 1963	183
आश्चर्य है कि वह है—	19 अक्टूबर, 1963	183
अजीब बात है...	19 अक्टूबर, 1963	184
सत्य और असत्य	19 अक्टूबर, 1963	184
न आदमी है—	22 अक्टूबर, 1963	184
उसे घमंड है कि...	30 अक्टूबर, 1963	185
उसका न्याय ...	30 अक्टूबर, 1963	185
न्याय बाँटती है...	30 अक्टूबर, 1963	185
हम हो गये हैं बौने...	10 दिसम्बर, 1963	186
एक ओर...	12 दिसम्बर, 1963	186
कंठ से नहीं—	12 दिसम्बर, 1963	186
ठप्प कर दिया गया है अब	12 दिसम्बर, 1963	187
अब तक...	11 दिसम्बर, 1963	187
सड़कें	11 दिसम्बर, 1963	187
अब इसांन को...	13 दिसम्बर, 1963	188
स्वर्ग	21 मार्च, 1964	188
गोबर-गनेश और महेश	21 मार्च, 1964	188
डूबती है आँखों से...	15 मार्च, 1964	189
वर्तमान	14 दिसम्बर, 1963	189
मैं जिऊँगा	15 मार्च, 1964	189
मैंने कुछ पा लिया है...		190
दयालु हो गया है दीन	10 अप्रैल, 1964	190
मित्र	24 अप्रैल, 1964	190

गोद में बह रही नदी

टूटी हिम की टेक 30 जुलाई, 1962 191
तुम्हारे जन्म दिन पर 24 दिसम्बर, 1961 191
तुम पड़ी हो... 21 सितम्बर, 1962 192
तुम आ गयी... 22 मार्च, 1963 192
लाल हो गया है... 27 अप्रैल, 1963 193
चली गयी है कोई श्यामा 31 अक्टूबर, 1962 193
उसे देखना 22 अप्रैल, 1964 193
सब कुछ प्राप्य है उसे 24 अप्रैल, 1964 194
बड़ा दूध का धोया है वह 24 अप्रैल, 1964 194
बहुत दिन हो गये... 26 अप्रैल, 1964 194
ऐश्वर्य की प्रदर्शिनी 26 अप्रैल, 1964 195
पहाड़ और नदी 26 अप्रैल, 1964 195
अनर्थ हो गया है ... 26 अप्रैल, 1964 195
उजाले में जाला 27 अप्रैल, 1964 196
विकट है यह ... 28 अप्रैल, 1964 196
न आया वह 27 अप्रैल, 1964 196
पुकार रहे हो क्या तुम 28 अप्रैल, 1964 197
साठगाँठ 30 अप्रैल, 1964 197
दर्पण में खड़ी हो तुम 6 मई, 1964 197
महाकवि रवीन्द्रनाथ के प्रति 8 मई, 1961 198
खजुराहो के मन्दिर 13 अप्रैल, 1957 199

❐❐

चंद्रगहना से लौटती बेर

देख आया चन्द्रगहना।
देखता हूँ दृश्य अब मैं
मेड़ पर इस खेत की बैठा अकेला।
एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।
पास ही मिलकर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतली, कमर की है लचीली,
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर
कह रही है, जो छुए यह
दूँ हृदय का दान उसको।
और सरसों की न पूछो–
हो गयी सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिये हैं,
ब्याह-मंडप में पधारी;
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे।
देखता हूँ मैं : स्वयंवर हो रहा है,
प्रकृति का अनुराग-अंचल हिल रहा है

इस विजन में,
दूर व्यापारिक नगर से
प्रेम की प्रिय भूमि उपजाऊ अधिक है।
और पैरों के तले है एक पोखर,
उठ रहीं इसमें लहरियाँ,
नील तल में जो उगी है घास भूरी
ले रही वह भी लहरियाँ।
एक चाँदी का बड़ा-सा गोल खम्भा
आँख को है चकमकाता।
हैं कई पत्थर किनारे
पी रहे चुपचाप पानी,
प्यास जाने कब बुझेगी!
चुप खड़ा बगुला डुबाये टाँग जल में,
देखते ही मीन चंचल
ध्यान निद्रा त्यागता है,
चट दबाकर चोंच में
नीचे गले के डालता है!
एक काले माथ वाली चतुर चिड़िया
श्वेत पंखों के झपाटे मार फौरन
टूट पड़ती है भरे जल के हृदय पर,
एक उजली चटुल मछली
चोंच पीली में दबाकर
दूर उड़ती है गगन में!
औ' यहीं से—
भूमि ऊँची है जहाँ से—
रेल की पटरी गयी है।
ट्रेन का टाइम नहीं है।
मैं यहाँ स्वच्छन्द हूँ,

जाना नहीं है।
चित्रकूट की अनगढ़ चौड़ी
कम ऊँची ऊँची पहाड़ियाँ
दूर दिशाओं तक फैली हैं।
बाँझ भूमि पर
इधर-उधर रींवा के पेड़
काँटेदार कुरूप खड़े हैं।
सुन पड़ता है
मीठा-मीठा रस टपकाता
सुग्गे का स्वर
टें टें टें टें;
सुन पड़ता है
वनस्थली का हृदय चीरता,
उठता-गिरता,
सारस का स्वर
टिरटों टिरटों;
मन होता है–
उड़ जाऊँ मैं
पर फैलाये सारस के संग
जहाँ जुगुल जोड़ी रहती है
हरे खेत में,
सच्ची प्रेम कहानी सुन लूँ
चुप्पे-चुप्पे।

बसन्ती हवा

हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।
वही हाँ, वही जो युगों से गगन को
बिना कष्ट-श्रम के सम्हाले हुए है;
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

वही हाँ, वही जो धरा का बसन्ती
सुसंगीत मीठा गुँजाती फिरी हूँ;
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

वही हाँ, वही जो सभी प्राणियों को
पिला प्रेम-आस जिलाए हुए हूँ,
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

कसम रूप की है, कसम प्रेम की है,
कसम इस हृदय की, सुनो बात मेरी—
अनोखी हवा हूँ बड़ी बावली हूँ!
बड़ी मस्तमौला, नहीं कुछ फिकर है,
बड़ी ही निडर हूँ, जिधर चाहती हूँ
उधर घूमती हूँ, मुसाफिर अजब हूँ!
न घर-बार मेरा, न उद्देश्य मेरा,
न इच्छा किसी की, न आशा किसी की,

न प्रेमी, न दुश्मन,
जिधर चाहती हूँ उधर घूमती हूँ!
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

जहाँ से चली मैं, जहाँ को गयी मैं,
शहर, गाँव, बस्ती,
नदी, रेत, निर्जन, हरे खेत, पोखर,
झुलाती चली मैं, झूमाती चली मैं,
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया,
गिरी धम्म से फिर, चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा, किया कान में 'कू',
उतरकर भगी मैं हरे खेत पहुँची–
वहाँ गेहुँओं में लहर खूब मारी,
पहर दो पहर क्या, अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं।
खड़ी देख अलसी लिये शीश कलसी,
मुझे खूब सूझी!
हिलाया–झुलाया, गिरी पर न कलसी!
इसी हार को पा
हिलायी न सरसों, झुलायी न सरसों,
मजा आ गया तब,
न सुध–बुध रही कुछ,
बसन्ती नवेली भरे गात में थी!

हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।
मुझे देखते ही अरहरी लजायी,
मनाया–बनाया, न मानी, न मानी,
उसे भी न छोड़ा–
पथिक आ रहा था, उसी पर ढकेला,
लगी जा हृदय से, कमर से चिपककर,
हँसी जोर से मैं, हँसी सब दिशाएँ
हँसे लहलहाते हरे खेत सारे,
हँसी चमचमाती भरी धूप प्यारी,
बसन्ती हवा में हँसी सृष्टि सारी!
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

घन–जन

घन गरजे जन गरजे
बन्दी सागर को लख कातर
एक रोष से
घन गरजे जन गरजे
क्षत–विक्षत लख हिमगिरि अन्तर
एक रोष से

घन गरजे जन गरजे
क्षिति की छाती को लख जर्जर
एक शोध से
घन गरजे जन गरजे
देख नाश का ताण्डव बर्बर
एक बोध से।
घन गरजे जन गरजे

दो जीवन

कली निगाह में पली,
हिली-डुली कपोल में,
हृदय-प्रदेश में खिली,
तुली हँसी की तोल में।
गरम गरम हवा चली,
अशान्त रेत से भरी,
हरेक पाँखुरी जली,
कली न जी सकी, मरी।
बबूल आप ही पला,
हवा से वह न डर सका,
कठोर जिन्दगी चला,
न जल सका, न मर सका।

माँझी! न बजाओ बंशी

माँझी! न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे पल-पल डोलता
माँझी! न बजाओ बंशी मेरा प्रन टूटता
मेरा प्रन टूटता है जैसे तृन टूटता
तृन का निवास जैसे बन-बन टूटता
माँझी! न बजाओ बंशी मेरा तन झूमता
मेरा मन झूमता है तेरा तन झूमता
मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता।

धीरे उठाओ मेरी पालकी

धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूँ सुहागिन गोपाल की
बेला है फूलों के माल की
फूलों के माल की–
धीरे उठाओ मेरी पालकी।

धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूँ बँसुरिया गोपाल की
बेला है गीतों के ताल की
गीतों के ताल की–
धीरे उठाओ मेरी पालकी।

धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूँ सुरतिया गोपाल की
बेला है मनसिज के ज्वाल की
मनसिज के ज्वाल की–
धीरे उठाओ मेरी पालकी।

नाव मेरी पुरइन के पात की

नाव मेरी पुरइन के पात की,
कोमल है गात की,

व्याकुल है जैसे कि चातकी,
स्वाती के स्वाद की!

लाखों हैं लहरें आघात की,
पीड़ा है पातकी,
छायी अँधेरी है रात की–
भारी विषाद की।

नाव खेयो पुरइन के पात की,
किरनों से प्रात की,

साहस की उँगली से बात की,
मीड़ों से नाद की।

टूटें न तार तने

टूटें न तार तने जीवन–सितार के
ऐसा बजाओ इन्हें प्रतिभा की ताल से,
किरनों से, कुंकुम से, सेंदुर–गुलाल से,
लज्जित हो युग का अँधेरा निहार के।

टूटें न तार तने जीवन–सितार के
ऐसा बजाओ इन्हें ममता की ज्वाल से
फूलों की उँगली के कोमल प्रवाल से,
पूरे हों सपने अधूरे सिंगार के।

टूटें न तार तने जीवन–सितार के
ऐसा बजाओ इन्हें सौरभ के श्वास से,
आशा की भाषा से, यौवन के हास से,
छाया बसन्त रहे उपवन में प्यार के।

चाँद-चाँदनी

विश्व के
    वट-वृक्ष के ऊँचे शिखर पर
                चाँद चढ़कर,
चाव से नीचे निरखकर,
दूध की बाँहें पसारे,
मानवी मधुरा धरा को भेंटता है,
और
    यौवन-यामिनी की–
            चाँदनी का–
फूल फेनिल चूमता है।

प्रात-चित्र

रवि-मोर सुनहरा निकला,
        पर खोल सबेरा नाचा,
भू-भार कनक-गिरि पिघला,
        भूगोल मही का बदला।
नवजात उजेला दौड़ा,
कन-कन बन गया रुपहला।
मधुगीत पवन ने गाया,
        संगीत हुई यह धरती,
हर फूल जगा मुसकाया!

खेत का दृश्य

आसमान की ओढ़नी ओढ़े,
धानी पहने
फसल घँघरिया,
राधा बनकर धरती नाची,
नाचा हँसमुख
कृषक सँवरिया।
माती थाप हवा की पड़ती,
पेड़ों की बज
रही ढुलकिया,
जी भर फाग पखेरू गाते,
ढरकी रस की
राग-गगरिया!
मैंने ऐसा दृश्य निहारा,
मेरी रही न
मुझे खबरिया,
खेतों के नर्तन-उत्सव में,
भूला तन-मन
गेह-डगरिया।

धूप का गीत

धूप धरा पर उतरी
जैसे शिव के जटाजूट पर
नभ से गंगा उतरी।
धरती भी कोलाहल करती
तम से ऊपर उभरी!!
धूप धरा पर बिखरी॥

बरसी रवि की गगरी,
जैसे ब्रज की बीच गली में
बरसी गोरस गगरी।
फूल–कटोरों–सी मुसकाती
रूप–भरी है नगरी!!
धूप धरा पर निखरी!!

कंचन-किरणें

धीरे से पाँव धरा धरती पर किरनों ने,
मिट्टी पर दौड़ गया लाल रंग तलुओं का।
छोटा-सा गाँव हुआ केसर की क्यारी-सा,
कच्चे घर डूब गये कंचन के पानी में।
डालों की डोली में लज्जा के फूल खिले,
ऊषा ने मस्ती से फूलों को चूम लिया।
गोरी ने गीतों से सरसों की गोद भरी,
भौरों ने गोरी के गालों को चूम लिया।

26-8-1955

उदास दिन

यह उदास दिन
पेंसन पाये चपरासी-सा,
          और जुए में हारे जन-सा,
आपे में खोये गदहे-सा,
          मौन खड़ा है।
          रवि रोता है
माँ से बिछुड़े हुए पुत्र-सा।
धूप पड़ी है
परित्यक्त पत्नी-सी कातर।
          पाँव कटाये
हवा लढ़ी पर लेटे-लेटे,
धीरे-धीरे
अस्पताल को ओर चली है,
          सुबुक रही है!
एक टाँग पर खड़े,
          देह का भार उठाये,
ऊँचे-ऊँचे पेड़ पुरातन
वनस्थली में तप करते हैं
जटा बढ़ाये।

25-3-1956

मानव के अग्रज

पेड़ नहीं,
पृथ्वी के वंशज हैं,
फूल लिये,
फल लिये,
मानव के अग्रज हैं।

24–4–1956

अब देखा है

मैंने जब देखा था–
            सावन था,
            बादल थे,
इससे कम देखा था!
अब तो यह फागुन है,
फूलों में देखा है,
रंगों से, गंधों से
बाँधे तन देखा है :
इससे अब देखा है!

30–12–1956

वसंत

हिम से हत संकुचित प्रकृति अब फूली
रूप-राग-रस-गंध-भार भर झूली
रंगों से अभिभूत हुई चट्टानें
जड़ता में जागीं जीवन की तानें
नभ में भी आलोक-नील गहराया
सागर ने संगीत तरंगित गाया
आठ रूप शिव के, समाधि को त्यागे
मृण्मय अवनी के अंगों में जागे
वासंतिक वैभव यौवन पर आया
हरा-भरा संसार खिला मुसकाया।

15-1-1957

तुम्हें

सिन्धु की सीमान्त गहरी
                    साँस लेती नीलिमा को
हेमहासी तप्तश्वासी सूर्य का आलोक जैसे
प्रेम-पालित पुष्प-पूरित आकुलित उर से लगाये
और तन्मय हो
                    सुरंगों की तरंगों में झुलाये
मैं तुम्हें वैसे तुम्हारी पूर्णिमा के साथ पाऊँ
और वैसे ही विवसना वासना की पूर्णिमा में
आम-बौरों से सुगन्धित आकुलित उर से लगाऊँ
रूप की, रस की, सुरंगों की तरंगों में झुलाऊँ।

24-2-1957

मन्मथ वसंत

यह वसन्त जो
धूप, हवा, मैदान, खेत, खलिहान, बाग में
निराकार मन्मथ मदान्ध-सा रात-दिवस साँसें लेता है,
जानी-अनजानी सुधियों के कितने-कितने संवेदों से
सरवर, सरिता,
लता-गुल्म को, तरु-पातों को छू लेता है
और हजारों फूलों की रंगीन सुगन्धित सजी डोलियाँ
यहाँ-वहाँ चहुँ ओर खोलकर मनोमोहिनी रख देता है
वही हमारे
और तुम्हारे अन्तःपुर में
आज समाये
हमको-तुमको
आलिंगन की तन्मयता में एक बनाये।

25-2-1957

वे किशोर नयन

उसके वे नयन जो किशोर हैं,
रूप के विभोर जो चकोर हैं,
ऐसा कुछ
            आज मुझे भा गये–
कि बावरा बना गये!
आह! मुझे
प्यार की पुकार से
            निहार गये,
            और मुझे
म्लान हुए हार-सा
उतार गये।

28-2-1957

बालक ने

ताल को कँपा दिया
कंकड़ से बालक ने,
ताल को कँपा दिया,
ताल को नहीं
अनन्त काल को कँपा दिया।

5–10–1957

गाने के लिए गया

पक्षी जो
एक अभी-अभी उड़ा
और एक बोलती लकीर-सा
अभी-अभी
नील व्योम-वक्ष में समा गया
गीत वहाँ
गाने के लिए गया
गाएगा
और लौट आएगा
पक्षी जो
एक अभी-अभी उड़ा।

1957

आँखों देखा

आज
          अभी आँखों से
पर्वतीय निर्जन के
          धुन्ध-भरे घेरे में,
कैद खड़े पेड़ों के
          मौन पड़े डेरे में,
          पातहीन डालों के
आखिरी किनारों पर
          पीत पगे फूलों के
आरसी कपोलों पर
दिन में ही
          जगर-मगर
दीप जले देखे हैं।

1957

एक खिले फूल ने

झाड़ी के एक खिले फूल ने
नीली पँखुरियों के
                एक खिले फूल ने
आज मुझे काट लिया
ओठ से,
और मैं अचेत रहा
                धूप में।

24-10-1957

वन की प्रकृति वामा

हास-हर्ष-हुलास की यह हरी जाया
फूल-फल से, रूप-रस से भरी काया
पात-पात प्रकाश-दीपित प्रकृति वामा
वात-वास-विलास-जीवित सुरति श्यामा
हर रही दव, कर रही संभूत माया
परस अपरस-विरस पर कर रही दाया
जठर जड़ भी चकित चित् चैतन्य होते
देखते ही चूमते छवि, धन्य होते
गमक अग का मदन-मद-सा विपुल बहता
पवन पथ का कथन मधु का अतुल कहता
अयन छवि के नयन अन्तर्नयन खुलते
वनज-वन के सदल सम्पुट वदन खुलते।

27-1-1958

संगमरमर का सबेरा और हम

संगमरमर का सबेरा!
और
        उसकी मूर्तियाँ हम–
मूक, कातर!
आह! हमको
शस्यश्यामा छुए,
चूमे और भेंटे!!

23–3–1958

आज नदी बिलकुल उदास थी

आज नदी बिलकुल उदास थी,
सोयी थी अपने पानी में,
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था।
मैंने उसको नहीं जगाया,
दबे पाँव घर वापस आया।

23–3–1958

पत्थर भी बोलते हैं

पत्थर भी बोलते हैं
जब चिड़ियों का झुंड
            बैठ जाता है उन पर,
और वे चहकती हैं आपस में!
पत्थर के ये बोल
            मुझे मीठे लगते हैं,
            और हृदय में रस भरते हैं
अंगूरों से निकला
मीठा-मीठा ताजा!

23-3-1958

लिपट गयी जो धूल पाँव से

लिपट गयी जो धूल पाँव से
वह गोरी है इसी गाँव की
जिसे उठाया नहीं किसी ने
इस कुठाँव से।

25–3–1958

ऐसे जैसे किरन

ऐसे जैसे किरन
ओस के मोती छू ले
तुम मुझको
चितवन से छू लो
मैं जीवित हो जाऊँ!
ऐसे जैसे स्वप्न
लजीला पलकें छू ले
तुम मुझको
चुम्बन से छू लो
मैं रसमय हो जाऊँ!

26–3–1958

तुम भी कुछ हो

तुम भी कुछ हो
लेकिन जो हो,
वह कलियों में–
रूप–गन्ध की लगी गाँठ है
जिसे उजाला
धीरे–धीरे खोल रहा है।

25–3–1958

चील्ह

चील्ह
दबाये है
पंजों में
मेरे दिल को
हरी घास पर
खुली हवा में
जिसे धूप में
मैंने रक्खा!

24-3-1958

मैं बादल हूँ

मैं बादल हूँ
आषाढ़ी जामुन के रंग का,
लेकिन तपकर
मैं बादल हो गया कनक का,
और तुम्हारा छत्र हो गया!

24-6-1958

धूप नहीं, यह

धूप नहीं, यह
बैठा है खरगोश पलँग पर
उजला,
रोएँदार, मुलायम—
इसको छूकर
ज्ञान हो गया है जीने का
फिर से मुझको।

5-6-1958

यह जो

यह जो
नाग दिये के नीचे
चुप बैठा है,
इसने मुझको
काट लिया है
इस काटे का मन्त्र
तुम्हारे चुम्बन में है,
तुम चुम्बन से
मुझे जिला लो।

7-6-1958

यह पठार जो जड़ बीहड़ था

वह पठार जो जड़ बीहड़ था
कटते-कटते ध्वस्त हो गया,
धूल हो गया,
सिंचते-सिंचते
दूब हो गया,
और दूब पर
वन के मन के–
रंग-रूप के, फूल खिल उठे,
वन-फूलों से गंध-भरा
संसार हो गया।

14-6-1958

आज धूप जैसे ही आयी

हे मेरी तुम!
आज धूप जैसे ही आयी
और दुपट्टा
उसने मेरी छत पर रक्खा
मैंने समझा तुम आयी हो
दौड़ा मैं तुमसे मिलने को
लेकिन मैंने तुम्हें न देखा
बार-बार आँखों से खोजा
वही दुपट्टा मैंने देखा
अपनी छत के ऊपर रक्खा।
मैं हताश हूँ
पत्र भेजता हूँ, तुम उत्तर जल्दी देना :
बतलाओ क्यों तुम आयी थी मुझसे मिलने
आज सबेरे,
और दुपट्टा रखकर अपना
चली गयी हो बिना मिले ही?
क्यों?
आखिर इसका क्या कारण?

20-6-1958

हे मेरी तुम सोयी सरिता !

हे मेरी तुम सोयी सरिता!
उठो,
और लहरों से नाचो
तब तक, जब तक
आलिंगन में नहीं बाँध लूँ
और चूम लूँ
तुमको!
मैं मिलने आया बादल हूँ!!

26–1–1958

हे मेरी तुम उन्मुख वीणा !

हे मेरी तुम उन्मुख वीणा!
तुमको जब तक लिये अंक में
जिऊँ, अन्त तक,
तब तक, हाँ, तुम तब तक
मेरी ओर निहारो
और प्यार के तार-तार से
बार-बार तुम मुझे पुकारो—
कभी किसी क्षण
नहीं बिसारो।

19-6-1958

जब अषाढ़ी बादल आयें

हे मेरी तुम!
जब आषाढ़ी बादल आयें
आसमान में और हवा में
                हाथी धायें
ऊँचे-ऊँचे सूँड़ उठायें
और झमाझम पानी बरसे
तब तुम उस नव बरसे जल में,
अपने तन पर लाज लपेटे,
अपनी छत पर खूब नहाना
                और बाद में
उन्हें आँख के
खिले कमल के फूल चढ़ाना!
यह स्वभाव है सुधी जनों का
                और घनों का,
वह प्रसन्न होते हैं
रमणी के अर्पण से!

21-6-1958

हे मेरी तुम! बिना तुम्हारे

हे मेरी तुम!
बिना तुम्हारे—
जलता तो है
दीपक मेरा
लेकिन ऐसे
जैसे आँसू
की यमुना पर
छोटा-सा
खद्योत
टिमकता,
क्षण में जलता
क्षण में बुझता।

23-6-1958

दीप की लौ-से दिन

भूल सकता मैं नहीं
ये कुच-खुले दिन,
ओठ से चूमे गये,
उजले, धुले दिन,
जो तुम्हारे साथ बीते
रस-भरे दिन,
बावरे दिन,
दीप की लौ-से
गरम दिन।

25-6-1958

रात

दिन हिरन–सा चौकड़ी भरता चला,
धूप की चादर–सिमटकर खो गयी,
खेत, घर, वन, गाँव का
दर्पण किसी ने तोड़ डाला,
शाम की सोना–चिरैया
नीड़ में जा सो गयी,
पेड़–पौधे बुत गये जैसे दिये,
केन ने भी जाँघ अपनी ढाँक ली,
रात है यह रात, अंधी रात,
और कोई कुछ नहीं है बात!

25–6–1958

पक्षी दिन

मौन पक्षी–सा
बड़ा दिन
नीम पर
बैठा रहा,
मारने पर भी
बड़ा ढेला,
उड़ा पक्षी नहीं,
नीम ने भी तो
नहीं नीचे ढकेला,
आह !–
यह कितना अकेला,
निलज,
नीघस,
आज का दिन !

25–6–1958

अंधकार की चुप्पी में

अंधकार की चुप्पी
बँधे हुए
जूड़े-सी चुप है,
और तरल है
अतल सिंधु-सी;
मैं
इस चुप्पी के
जल-तल में
पूरा डूबा,
खोज रहा हूँ
बिछुड़ी मछली—
वह जो मुझसे
छूट गयी है—
जैसे घन से
लिपटी बिजली
छूट गयी है।

26-6-1958

भिक्षुक दुख

मैंने आँसू सोख लिये हैं
और पिये हैं
बेला औ, चम्पा गुलाब के
डब-डब आँसू,
मौलसिरी के
छल-छल आँसू,
जैसे सूरज पी लेता है
हरी घास के लकदक आँसू!
मेरा दुख
भिक्षुक है मेरा;
वह जो लेता है
देता हूँ;
जाता है जब
तब मैं उससे
आने का
वादा लेता हूँ

26-6-1958

दिवस शरद के

मुग्ध कमल की तरह
पाँखुरी-पलकें खोले,
कन्धों पर अलियों की व्याकुल
अलकें तोले,
तरल ताल से
दिवस शरद के पास बुलाते
मेरे मन में रस पीने की
प्यास जगाते!

17-12-1958

धूप

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने
मैके में आयी बेटी की तरह मगन है
फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है
जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली हैं
भैया की बाहों से छूटी भौजाई-सी
लहँगे को लहराती लचती हवा चली है
सारंगी बजती है खेतों की गोदी में
दल के दल पक्षी उड़ते हैं मीठे स्वर के
अनावरण यह प्राकृत छवि की अमर भारती
रंग-बिरंगी पंखुरियों की खोल चेतना
सौरभ से मँह-मँह महकाती है दिगन्त को
मानव मन को भर देती है दिव्य दीप्ति से
शिव के नन्दी-सा नदिया में पानी पीता
निर्मल नभ अवनी के ऊपर बिसुध खड़ा है
काल काग की तरह ठूँठ पर गुमसुम बैठा
खोयी आँखों देख रहा है दिवास्वप्न को।

17-1-1959

शर्त

यदि तुम जीवन के सागर की छापामार लहर हो कोई
तब तुम अपने जीवित जल से
आड़े आए हुए किसी भी प्रतिरोधी को टक्कर देकर
हटा सकोगे और लक्ष्य तक पहुँच सकोगे अपने मन के
वरना तुमको ध्वंस करेगा वह प्रतिरोधी अपने बल से
और तुम्हारी छोटी सत्ता को बिखरा देगा बूँदों में
केवल बुदबुद करते रहकर जिया करोगे सिसकी लेते
अपने प्रतिरोधी के चरणों को पखारते
बहुत दिनों तक—बहुत दिनों तक।

1959

अस्थि के अंकुर

अस्थि के अंकुर

मौन में जो गीत तुमने भर दिये थे
कभी गाये हुए बीते किसी युग में
वे पुरानी हड्डियों से निकल आये
फोड़ कनखे
नये युग के मौर बनकर

15–9–1959

सब के लिए

सब के लिए समर्पण सब कुछ
अपना अहं, पुरातन, नूतन,
जीवन के दिन रात प्रहर क्षण,
आलिंगन, आकर्षण, चुम्बन,
सामूहिक उन्नति के आगे
सामूहिक अष्टांग समर्पण,
अपनी-अपनी भिन्न इकाई का
अब कोई मूल्य न दर्शन।

19-4-1959

आज

खोल चौड़ी कड़ी छाती को प्रति क्षण
अब नगाड़े कब कड़कते!
ढोल, ढीले बोल को ऊपर उठाने
अब नहीं दम जोर भरते!
अंग अंग उमंग में नव रंग लेकर
अब न दंग मृदंग करते।
ठंड से ऐंठे हुए, ठिठुरे बहुत ही,
अब न तबले ही ठनकते!!
प्यार-पारावार बारम्बार पाकर
अब न तार-सितार तनते।
लीन अन्तर्गीत के मद पीन में हो
बीन के न विहाग तरते।
राव-रंगी, भाव-भंगी, केलि-संगी,
स्वर सरंगी के न सजते।
आज बर्बर क्रूर कर्कश विश्व भर में
सभ्यता के गाल बजते।

देश की आशाएँ

सैकड़ों हजार गिद्ध
व्योम के प्रसार में उधार क्षुब्ध क्रुद्ध पंख
मांस की पुकार मार
अंधकार का अपार आरपार नोचते!
देश के करोड़ पुत्र
छोड़ सिंधु, गंग, ब्रह्म, विन्ध्य के महाप्रदेश,
क्षीण, वृत्तिहीन, त्रस्त,
खा पछाड़, यत्र-तत्र पेट को मरोड़ते!!

कानपुर

चोटों पर चोटें जो घन की
खाकर कभी नहीं तड़की है,
उस हड्डी पर—उस पसली पर
श्रमजीवी की उस छाती पर,
कानपुर का शहर सजीला,
कई मील के लम्बे-चौड़े
मिलों कारखानों को घेरे
घण्टाघर ले बसा हुआ है।
कंकड़, पत्थर, कोलतार की
काली-काली चौड़ी सड़कें—
दूकानों का बोझा लादे
गहरी निद्रा में लेटी है।

कई टनों के पर्वत, जैसे
सड़क कूटने वाले इंजन,
मनों बोझ के टायर पहने
चलने वाले लाखों मोटर,
लोहे की पटरी की सड़कें,
भारी-भरकम रेलगाड़ियाँ,
उस हड्डी पर—उस पसली पर
चलने-फिरने में तन्मय हैं।
घाट, धर्मशाले, अदालतें,

विद्यालय, वेश्यालय सारे,
होटल, दफ्तर, बूचड़खाने,
मन्दिर, मस्जिद, हाट, सिनेमा,
श्रमजीवी की उस हड्डी से
टिके हुए हैं–जिस हड्डी को
सभ्य आदमी के समाज ने
टेढ़ी करके मोड़ दिया है!!
कानपुर की सारी सत्ता–

श्रमजीवी की ही सत्ता है।
कानपुर की सारी माया
श्रमजीवी की ही माया है!!

बुन्देलखण्ड के आदमी

हट्टे-कट्टे हाड़ों वाले,
चौड़ी, चकली काठी वाले
थोड़ी खेती-बाड़ी रक्खे
केवल खाते-पीते जीते!
कत्था चूना लौंग सुपारी
तम्बाकू खा पीक उगलते,
चलते-फिरते, बैठे-ठाढ़े
गन्दे यश से धरती रँगते!
गुड़गुड़ गुड़गुड़ हुक्का पकड़े,
खूब धड़ाके धुआँ उड़ाते,
फूहड़ बातों की चर्चा के
फौवारे फैलाते जाते!
दीपक की छोटी बाती की
मन्दी उजियारी के नीचे
घण्टों आल्हा सुनते-सुनते
सो जाते हैं मुरदा जैसे!!

पैतृक सम्पत्ति

जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने :
घर का मलवा, टूटी खटिया,
कुछ हाथ भूमि—वह भी परती।
चमरौधे जूते का तल्ला,
छोटी, टूटी बुढ़िया औगी,
दरकी गोरसी बहता हुक्का,
लोहे की पत्ती का चिमटा।
कंचन सुमेरु का प्रतियोगी
द्वारे का पर्वत घूरे का,
बनिया के रुपयों का कर्जा
जो नहीं चुकाने पर चुकता।
दीमक, गोजर, मच्छर, माटा—
ऐसे हजार सब सहवासी।
बस यही नहीं, जो भूख मिली
सौगुनी बाप से अधिक मिली।
अब पेट खलाये फिरता है।
चौड़ा मुँह बाये फिरता है।
वह क्या जाने आजादी क्या?
आजाद देश की बातें क्या??

कटुई का गीत

काटो काटो काटो करबी
साइत और कुसाइत क्या है
जीवन से बढ़ साइत क्या है

काटो काटो काटो करबी
मारो मारो मारो हँसिया
हिंसा और अहिंसा क्या है
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है

मारो मारो मारो हँसिया
पाटो पाटो पाटो धरती
धीरज और अधीरज क्या है
कारज से बढ़ धीरज क्या है

पाटो पाटो पाटो धरती
काटो काटो काटो करबी

मोरचे पर

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर!
जिन्दगी की फौज मेरी शक्तिशाली
मैं जिसे लेकर यहाँ पर आ डटा हूँ–
घुड़सवारों पर जिसे अभिमान है,
पैदलों का सिन्धु जिसके साथ है,
टैंक लाखों ही यहाँ मौजूद हैं,
तोपची जिसके कुशल करतार हैं,
आज आगे बढ़ रही है–
वेग से, बल से, उमड़कर चढ़ रही है,
आततायी बैरियों की फौज ढहती जा रही है,
–आग से जैसे पिघलकर मोमबत्ती गल रही है,
लौह की दीवार के गढ़ कायरों के
चूर करती जा रही है।

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर!
आप ही अपने हृदय के द्वन्द्व को मैं मारता हूँ;
वह अभी तक सूरमा था,
दक्ष भी था,
क्रूर भी था,
मैं उसे अब जीतता हूँ;
वह पराजित हो रहा है–हो रहा है;
सिर कटाये, प्राण–जीवनहीन मुरदा हो रहा है;

लाश उसकी गिद्ध-कौए नोचते हैं;
मैं अचेतन और उपचेतन सभी पर
वार करता जा रहा हूँ;

व्यक्तिवादी सभ्यता को ध्वंस बिलकुल कर रहा हूँ।
मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर!
देवियों के रूप के आराधकों को
जो बँधे हैं प्रेम के स्वर तार से ही–
लौह की कटु शृंखला में बाँधकर मैं खींचता हूँ
और जन-संघर्ष में लाकर उन्हें,
फौजी बनाकर छोड़ता हूँ।

स्वप्न के जो देव हैं
औ' स्वप्न की जो देवियाँ हैं,
हाथ में हल और हँसिया को थमाकर,
मैं उन्हें मजबूर करता हूँ
कि जोतो और काटो

पेट की पहली समस्या को मिटाओ।
मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर!
लेखनी की शक्तिशाली गर्जना से
मैं कलेजा शोषकों का फाड़ता हूँ,
सूदखोरों को,
मिलों के मालिकों को,
अर्थ के पैशाचिकों को,

भूमि को हड़पे हुए धरणीधरों को,
मैं प्रलय के साम्यवादी आक्रमण से मारता हूँ,
और उनके अपहरण की
दिग्विजयिनी सभ्यता को,
सर्वहारा की नवोदित सभ्यता से जीतता हूँ

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर!
रक्त की धारा बहाकर
किरकिराती रेत को भी उर्वरा मैं कर रहा हूँ;
शब्द के कर्मण्य कर से जोत धरती,
मानवी स्वाधीनता के बीज बोता जा रहा हूँ,
और श्रमजीवी हितों के अंकुरों को
मैं उगाता जा रहा हूँ,
जो पराजित हो नहीं सकते किसी से
जो मिटाये जा नहीं सकते किसी से,
जो मरेंगे किन्तु फिर जीकर लड़ेंगे,
मैं उन्हें ऊपर उठाता जा रहा हूँ।

1948

लेखक की स्वतन्त्रता

आप अपने कुत्ते को–
चाहे जंजीर से या किसी रस्सी से बाँधे रहें,
साथ लिये घूमें या कि कमरे में रहने दें,
टुकड़े दें या कि उसे जूठा बचा खाना दें,
फर्श पर सुलायें या कि गद्दे पर सोने दें,
कुत्ता वह आपका है,
हमसे क्या मतलब है कोई एतराज करें,
अथवा ऐलान करें उसकी आजादी का।
आप अपनी घड़ियों के मालिक हैं,
जैसे आप कुत्ते के मालिक हैं,–
जिनको आप धागे या सोने के डोरे से
बाँधे हुए रखते हैं,
जिनको आप तस्मे से कसे हुए रखते हैं,
जिनको आप कील के सहारे लटकाये हुए रखते हैं–
घड़ियाँ वे आपकी हैं,
हमसे क्या मतलब है कोई एतराज करें,
अथवा ऐलान करें उनकी आजादी को।
लेकिन हम लेखक हैं–कुत्ते या घड़ी नहीं–
मानव की आत्मा के शिल्पी हैं, उनके हम वंशज हैं,
जिनका सिर ऊँचा है, जिनका दिल सोना है,
जिनकी कृति आज तक चमकती है,
जिनका ईमान किसी दाम पर बिका नहीं,
शासन से स्वाभिमान झुका नहीं,

इसीलिए हमको वह बन्धन सब बहुत बुरे लगते हैं,
जिनमें हम बँधते ही मौलिकता खोते हैं,
जिनसे हम शासन के चोबदार होते हैं,
जिनसे हम शासन के चाटुकार होते हैं,
जिनसे हम जीवन की क्षमता को–
ममता को, दृढ़ता को खोते हैं,
जिनसे हम जनता से छूटे हुए होते हैं,
अपने से और सारी दुनिया से ऊबे हुए होते हैं,
इसीलिए एकदेह–एकप्राण होकर हम कहते हैं :
तुलसी के वंशज को–
सूर के, कबीरा के वंशज को–
आज के लेखक को दाम से खरीदो नहीं,
राजशाही गुम्बद की छाया में लेखक को पालो नहीं,
लेखक को हुक्म या हिदायत से बाँधो नहीं,
लेखक को सच्ची बात कहने से रोको नहीं,
बल्कि उसे, सच्ची आजादी दो
ताकि वह वही लिखे जो कि उसे लिखना है,
शक्ति और साहस से वही कहे जो कि उसे कहना है,
ताकि वह मजूर की, किसान की हिमायत करे,
जालिम के साथ नहीं कोई रू–रियायत करे,
ताकि वह कयामत को, पतझर को दूर ही हटाये रहे,
ताकि वह जमीन को हसीन ही बनाये रहे,
ताकि वह मनुष्यों को अर्थ और वाणी दे,
ताकि वह मनुष्यों को स्वाभिमान साहस दे,
ताकि वह स्वदेश को नवीन रूप से गढ़े।

1957

लौह का घन गल रहा है

वह थका, हारा, बहुत ऊबा मनुज है!
भूमि उसको प्रिय नहीं है।
वर्ग के संघर्ष से वह काँपता है,
दूर उसके क्षेत्र से ही भागता है।
वह पुरानी सभ्यता के राज-पथ पर
पेट के बल मंद गति से रेंगता है,
श्वान के संग भूख अपनी मेटता है,
शासकों के कटु दमन की यंत्रणा से,
शोषकों के अपहरण की यातना से,
रक्त के कुल्ले उगलकर मर रहा है,
लाश अपनी ढो रहा है।
वह कला के, काव्य के डैने लगाकर,
सान्त्वना की प्राप्ति के हित,
कल्पना के नील नभ में
प्राण अपने खो रहा है।
वह नहीं जग जीत सकता,
वह नहीं इतिहास को–
जीवन-रुधिर से सींच सकता।
मौन मन वह सह रहा है–
जो यहाँ पर हो रहा है,
लौह का घन
मोम के दीपक सदृश ही गल रहा है।

गाँव का महाजन

वह समाज के त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन,
गौरव के गोबर गनेश-सा मारे आसन,
नारिकेल-से सिर पर बाँधे धर्म-मुरैठा,
ग्राम-बधूटी की गौरी-गोदी पर बैठा,
नागमुखी पैतृक सम्पत्ति की थैली खोले,
जीभ निकाले, बात बनाता करुणा घोले,
ब्याज-स्तुति से बाँट रहा है रुपया-पैसा,
सदियों पहले से होता आया है ऐसा!!

सूड़ लपेटे है कर्जे की ग्रामीणों को,
मुक्ति अभी तक नहीं मिली है इन दीनों को,
इन दीनों के ऋण का रोकड़-काण्ड बड़ा है,
अब भी किन्तु अछूता शोषण-काण्ड पड़ा है।

हथौड़े का गीत

मार हथौड़ा,
कर कर चोट
लाल हुए काले लोहे को
जैसा चाहे वैसा मोड़।
मार हथौड़ा,
कर कर चोट
थोड़े नहीं—अनेकों गढ़ ले
फौलादी नरसिंह करोड़।
मार हथौड़ा,
कर कर चोट
लोहू और पसीने से ही
बन्धन की दीवारें तोड़।
मार हथौड़ा,
कर कर चोट
दुनिया की जाती ताकत हो,
जल्दी छवि से नाता जोड़!

मैं

हारा हूँ सौ बार
गुनाहों से लड़-लड़कर,
लेकिन बारम्बार लड़ा हूँ
मैं उठ-उठकर,
इससे मेरा हर गुनाह भी मुझसे हारा
मैंने अपने जीवन को इस तरह उबारा

डूबा हूँ हर रोज
किनारे तक आ-आकर
लेकिन मैं हर रोज
उगा हूँ जैसे दिनकर,
इससे मेरी असफलता भी मुझसे हारी
मैंने अपनी सुन्दरता इस तरह सँवारी

नागार्जुन के बाँदा आने पर

यह बाँदा है।
सूदखोर आढ़त वालों की इस नगरी में,
जहाँ मार, काबर, कछार, पँड़ुआ की फसलें,
कृषकों के पौरुष से उपजा कन-कन सोना,
लढ़ियों में लद-लदकर आकर,
बीच हाट में बिककर कोठों-गोदामों में,
गहरी खोहों में खो जाता है जा-जाकर,
और यहाँ पर
रामपदारथ, रामनिहोरे,
बेनी पण्डित, बासुदेव, बल्देव, विधाता,
चन्दन, चतुरी और चतुर्भुज,
गाँवों से आ-आकर गहने गिरवी रखते,
बढ़े ब्याज के मुँह में बर-बस बेबस घुसते,
फिर भी घर का खर्च नहीं पूरा कर सकते,
मोटा खाते, फटा पहनते,
लस्टम-पस्टम जैसे-तैसे मरते-खपते,
न्याय जहाँ पर अन्यायों पर विजय न पाता,
सत्य सरल होकर कोरा असत्य रह जाता,
न्यायालय की ड्योढ़ी पर दबकर मर जाता,
यहाँ हमारे भावी राष्ट्र-विधाता,
युग के बच्चे,
विद्यालय में वाणी विद्या-बुद्धि न पाते,
विज्ञानी बनने से वंचित रह जाते,

केवल मिट्टी में मिल जाते।

यह बाँदा है,
और यहाँ पर मैं रहता हूँ,
जीवन-यापन कठिनाई से ही करता हूँ,
कभी काव्य की कई पंक्तियाँ,
कभी आठ-दस बीस पंक्तियाँ,
और कभी कविताएँ लिखकर,
प्यासे मन की प्यास बुझा लेता हूँ रस से,
शायद ही आता है कोई मित्र यहाँ पर,
शायद ही आती हैं मेरे पास चिट्ठियाँ।
मेरे कवि-मित्रों ने मुझ पर कृपा न की है,
इसीलिए रहता उदास हूँ, खोया-खोया,
अपने दुख-दर्दों में डूबा,
जन-साधारण की हालत से ऊबा-ऊबा,
बाण-विंधे पक्षी-सा घायल,
जल से निकली हुई मीन-सा, विकल तड़पता,
इसीलिए आतुर रहता हूँ,
कभी-कभी तो कोई आये,
छठे-छमाहे चार-पाँच दिन तो रह जाये,
मेरे साथ बिताये,
काव्य, कला, साहित्य-क्षेत्र की छटा दिखाये,
और मुझे रस से भर जाये, मधुर बनाये
फिर जाए, जीता मुझको कर जाए।
आखिर मैं भी तो मनुष्य हूँ,
और मुझे भी कवि-मित्रों का साथ चाहिए,
लालायित रहता हूँ मैं सबसे मिलने को,
श्याम सलिल के श्वेत कमल-सा खिल उठने को।

सच मानो जब यहाँ निरालाजी आये थे,
कई साल हो गये, यहाँ कम रह पाये थे,
उन्हें देखकर मुग्ध हुआ था, धन्य हुआ था,
कविताओं का पाठ उन्हीं के मुख से सुनकर,
गन्धर्वों को भूल गया था,
तानसेन को भूल गया था,
सूरदास, तुलसी, कबीर को भूल गया था,
ऐसी वाणी थी हिन्दी के महाकृता की।

तब यह बाँदा काव्य-कला की पुरी बना था,
और साल पर साल यहाँ मधुमास रहा था,
बम्बेश्वर के पत्थर भी बन गये हृदय थे,
चूनरिया बन गयी हवा थी, गौने वाली,
यह धरती हो गयी बधू थी फूलों वाली,
और गगन का राजा सूरज दूल्हा बनकर
चूम रहा था प्रिय दुलहन को।

फिर दिन बीते, मधु-घट रीते,
फिर पहले-सा यह नीरस हो गया नगर था,
फिर पहले-सा मैं चिन्तित था,
फिर मेरा मन भी कुण्ठित था,
फिर लालायित था मिलने को कवि-मित्रों से,
फिर मैं उनकी बाट जोहता रहा निरन्तर,
जैसे खेतिहर बाट जोहता है बादल की,
जैसे भारत बाट जोहता है सूरज की,
किन्तु न कोई आया,
आने के वादे मित्रों के टूटे,
कई वर्ष फिर बीते,

रंग हुए सब फीके,
और न कोई रही हृदय में आशा।
तभी बन्धुवर शर्मा आये,
महादेव साहा भी आये,
और निराला-पर्व मनाया हम लोगों ने,
मुंशीजी के पुस्तक-घर में,
एक बार फिर मिला सुअवसर मधु पीने का,
कविता का झरना बनकर झर-झर जीने का,
लगातार घण्टों, पहरों तक,
एक साथ साँसें लेने का,
एक साथ दिल की धड़कन-से ध्वनि करने का,
ऐसा लगा कि जैसे हम सब,
एक प्राण हैं, एक देह हैं, एक गीत हैं एक गूँज हैं
इस विराट फैली धरती के,
और हमी तो वाल्मीकि हैं, कालिदास हैं,
तुलसी हैं, हिन्दी कविता के हरिश्चन्द्र हैं,
और निराला हमी लोग हैं,
बन्धु! आज भी वह दिन मुझको नहीं भूलता,
उसकी स्मृति अब भी बेले-सी महक रही है,
उस दिन का आनन्द आज भी
कालिदास का छन्द बना मन मोह रहा है,
मुक्त मोर बन श्याम बदरिया भरे हृदय में,
दुपहरिया में, शाम-सबेरे नाच रहा है,
रैन-अँधेरे में चन्दनियाँ बाँह पसारे,
हमको, सबको भेंट रहा है।
सम्भवतः उस दिन मेरा नव जन्म हुआ था,
सम्भवतः उस दिन मुझको कविता ने चूमा,
सम्भवतः उस दिन मैंने हिमगिरि को देखा,

गंगा के कूलों की मिट्टी मैंने पायी,
उस मिट्टी से उगती फसलें मैंने पायीं,
और उसी के कारण अब तक बाँदा में जीवित रहता हूँ,
और उसी के कारण अब तक कविता की रचना करता हूँ,
और तुम्हारे लिए पसारे बाँह खड़ा हूँ,
आओ साथी गले लगा लूँ,
तुम्हें, तुम्हारी मिथिला की प्यारी धरती को,
तुममें व्यापे विद्यापति को,
और वहाँ की जनवाणी के छन्द चूम लूँ,
और वहाँ के गढ़-पोखर का पानी छूकर नैन जुड़ा लूँ,
और वहाँ के दुखमोचन, मोहन माँझी को मित्र बना लूँ,
और वहाँ के हर चावल को हाथों में ले हृदय लगा लूँ,
और वहाँ की आबहवा से वह सुख पा लूँ
जो गीतों में गाया जाकर कभी न चुकता,
जो नृत्यों में नाचा जाकर कभी न चुकता,
जो आँखों में आँजा जाकर कभी न चुकता,
जो ज्वाला में डाला जाकर कभी न जलता,
जो रोटी में खाया जाकर कभी न कमता,
जो गोली से मारा जाकर कभी न मरता,
जो दिन दूना रात चौगुना व्यापक बनता,
और वहाँ नदियों में बहता,
नावों को ले आगे बढ़ता,
और वहाँ फूलों में खिलता,
बागों को सौरभ से भरता।

अहोभाग्य है जो तुम आये मुझसे मिलने,
इस बाँदा में चार रोज के लिए ठहरने,
अहोभाग्य है मेरा, मेरे घर वालों का,

जिनको तुम स्वागत से हँसते देख रहे हो।
अहोभाग्य है इस जीवन के इन कूलों का,
जिनको तुम अपनी कविता से सींच रहे हो।
अहोभाग्य है हम दोनों का,
जिनको आजीवन जीना है, काव्य-क्षेत्र में।
अहोभाग्य है हम दोनों की इन आँखों का,
जिनमें अनबुझ ज्योति जगी है अपने युग की।
अहोभाग्य है दो जनकवियों के हृदयों का
जिनकी धड़कन गरज रही है घन-गर्जन-सी।
अहोभाग्य है कठिनाई में पड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति का,
जिनका साहस-शौर्य न घटता।
अहोभाग्य है स्वयं उगे इन सब पेड़ों का,
जिनके द्रुम-दल झरते फिर-फिर नये निकलते।
अहोभाग्य है हर छोटी चंचल चिड़िया का,
जिनका नीड़ बिगड़ते-बनते देर न लगती।
अहोभाग्य है बम्बेश्वर की चौड़ी-चकली चट्टानों का,
जिनको तुमने प्यार किया है, सहलाया है।
अहोभाग्य है केन नदी के इस पानी का,
जिसकी धारा बनी तुम्हारे स्वर की धारा।
अहोभाग्य है बाँदा की इस कठिन भूमि का,
जिसको तुमने चरण छुलाकर जिला दिया है।

खँडहर का सुनसान

खँडहर का सुनसान,
नीम के ताजे फूल बटोरे,
बीते युग की कड़ुवी सुधि में
महक रहा है।

वे प्रणयी जो छले गये हैं :
इस धरती से चले गये हैं,
मुझे आज भी वहाँ दीखते–
बाँह पसारे,
छवि–छलना के लिए ललकते,
आहें भरते,
और मिलन की आशा बाँधे।

मैं इस खँडहर में रहता हूँ
नित्य नीम के फूल सूँघकर।
अन्ध अतृप्त प्रणय की सुधि में,
मिलनातुर बाहें फैलाये
मैं जीता हूँ।

10–7–1956

हम उन लहरों के समान हैं

हम उन लहरों के समान हैं जो आती हैं
गोल बाँधकर, नाच-नाचकर जो गाती हैं,
गीतों की धन्वा-ध्वनियों-सी लहराती हैं
सावन के झूलों की पेंगें हो जाती हैं,
मूँगे मोती जो अपने सँग में लाती हैं,
तट को देकर जो तट पर ही सो जाती हैं,
सो जाती हैं, लेकिन तट को धो जाती हैं
कोई जीव नहीं पाता है, खो जाती हैं।

20-12-1956

हम न रहेंगे

हम न रहेंगे–
तब भी तो यह खेत रहेंगे;
इन खेतों पर घन घहराते
शेष रहेंगे;
जीवन देते,
प्यास बुझाते,
माटी को मद–मस्त बनाते,
श्याम बदरिया के
लहराते केश रहेंगे।
हम न रहेंगे–
तब भी तो रति–रंग रहेंगे;
लाल कमल के साथ
पुलकते भृंग रहेंगे;
मधु के दानी,
मोद मनाते,
भूतल को रससिक्त बनाते,
लाल चुनरिया में
लहराते अंग रहेंगे।

10–3–1958

रोटी के पैदा होते ही

रोटी के पैदा होते ही
बुझे नैन में
जुगनू चमके,
और थका दिल
फिर से हुलसा,
जी हाथों में आया,
और होठ मुसकाये,
घर मेरा
वीरान पड़ा–
आबाद हो गया।

24–3–1958

मैं घोड़ों की दौड़

मैं घोड़ों की दौड़
        बनों के सिर पर तड़-तड़ दौड़ा,
पेड़ बड़े से बड़ा
        चिरौंटे-सा चिल्लाया चौंका,
पत्तों के पर फड़-फड़ फड़के–
        उलटे, उखड़े, टूटे,
मौन अँधेरे की डालों पर
        साँड़ पठारी छूटे!

धोबी गया घाट पर

धोबी गया घाट पर,
राही गया बाट पर,
मैं न गया घाट और बाट पर;
बैठा रहा टाट पर,
दोनों हाथ काटकर,
जीता रहा ओस चाट-चाटकर।

तेज धार का कर्मठ पानी

तेज धार का कर्मठ पानी,
          चट्टानों के ऊपर चढ़कर,
मार रहा है
घूँसे कसकर
तोड़ रहा है तट चट्टानी!

मैंने उसको

मैंने उसको
जब–जब देखा,
लोहा देखा,
लोहा जैसा–
तपते देखा,
गलते देखा,
ढलते देखा,
मैंने उसको
गोली जैसा
चलते देखा।

कँकरीला मैदान

कँकरीला मैदान
ज्ञान की तरह जठर-जड़ लम्बा-चौड़ा,
गत वैभव की विकल याद में–
बड़ी दूर तक चला गया है गुमसुम खोया!
जहाँ-तहाँ कुछ-कुछ दूरी पर,
उसके ऊपर,
पतले से पतले डण्ठल के नाजुक बिरवे
थर-थर हिलते हुए हवा में खड़े हुए हैं
बेहद पीड़ित!
हर बिरवे पर मुँदरी जैसा एक फूल है
अनुपम मनहर, हर ऐसी सुन्दर मुँदरी को
मीनों ने चंचल आँखों से,
नीले सागर के रेश के रश्मि-तार से,
हर पत्ती पर बड़े चाव से बड़ी जतन से,
अपने-अपने प्रेमी जन को देने की
                    खातिर काढ़ा था
सदियों पहले।
                    किन्तु नहीं वे प्रेमी आये,
और मछलियाँ–
                    सूख गयी हैं, कंकड़ हैं अब!
आह! जहाँ मीनों का घर था
वहाँ बड़ा वीरान हो गया।

31-3-1958

छुट्टी का घंटा बजते ही

छुट्टी का घंटा बजते ही कक्षाओं से
निकल-निकल आते हैं जीते-जगते बच्चे,
हँसते-गाते चल देते हैं पथ पर ऐसे
जैसे भास्वर भाव वहीं हों कविताओं के
बन्द किताबों से बाहर छन्दों से निकले
देश-काल में व्याप रही है जिनकी गरिमा।
मैं निहारता हूँ उनको, फिर-फिर अपने को,
और भूल जाता हूँ अपनी क्षीण आयु को।

28-11-1958

वह चिड़िया जो

वह चिड़िया जो–
चोंच मारकर
दूध-भरे जुण्डी के दाने
रुचि से, रस से खा लेती है
वह छोटी संतोषी चिड़िया
नीले पंखों वाली मैं हूँ
मुझे अन्न से बहुत प्यार है।

वह चिड़िया जो–
कण्ठ खोलकर
बूढ़े वन-बाबा की खातिर
रस उँडेलकर गा लेती है
वह छोटी मुँह बोली चिड़िया
नीले पंखों वाली मैं हूँ
मुझे विजन से बहुत प्यार है।

वह चिड़िया जो–
चोंच मारकर
चढ़ी नदी का दिल टटोलकर
जल का मोती ले जाती है
वह छोटी गरबीली चिड़िया
नीले पंखों वाली मैं हूँ
मुझे नदी से बहुत प्यार है।

28–11–1958

हवा आयी

हवा आयी
खूबसूरत वल्लरी के वेश में
और मेरी देह से लिपटी रही;
वह प्रिया है, पेड़ हूँ मैं नीम का
प्रमुदित हुआ।

हवा आयी
गुदगुदाती हंसिनी के वेश में
और मेरे नीर में तिरती रही;
वह प्रिया है, अंक हूँ मैं झील का
पुलकित हुआ।

2–9–1959

मर जाऊँगा तब भी.........

मर जाऊँगा तब भी तुमसे दूर नहीं मैं हो पाऊँगा
मेरे देश, तुम्हारी छाती की मिट्टी मैं हो जाऊँगा
मिट्टी की नाभी से निकला मैं ब्रह्मा होकर आऊँगा
गेहूँ की मुट्ठी बाँधे मैं खेतों-खेतों छा जाऊँगा
और तुम्हारी अनुकम्पा से पककर सोना हो जाऊँगा
मेरे देश, तुम्हारी शोभा मैं सोना से चमकाऊँगा

19-4-1959

मार देखो

मार देखो
मौन टूटेगा न घन से
वह पला है धैर्य बन के
इस हृदय में
               और तन में
साँस में
               मेरे नयन में।

मार देखो
गीत टूटेगा न घन से
वह बना है प्राणप्रन से
दाह-दव में शुद्ध मन से
नेह के
               नाते वचन से।

10-8-1959

रंग बोलते हैं

फूल नहीं

फूल नहीं
रंग बोलते हैं
पंखुरियों से।
समुद्र के अन्तस्तल के
नील, श्वेत
और गुलाबी
शंख बोलते हैं वल्लरियों से।

फूल अखण्ड मौन हैं
रंग अमन्द नाद हैं।
अखण्ड मौन,
अमन्द नाद,
एक ही वृन्त पर
प्रतिष्ठित
धैर्य और उन्माद हैं।

30–10–1959

हो, न हो तुम्हें

हो, न हो तुम्हें,
हमें है हमारी सत्ता का बोध :
कि हम हैं संगमरमर के भीतर जल रहे दिये,
पर्त–पर्त में प्रकाश भर रहे दिये;
कि हम हैं मूर्तियों की अन्तरात्मा के दिये,
दिक्काल को भी जीवित कर रहे दिये;
कि हम हैं सूर्य और चन्द्रमा की आयु के साथी दिये,
अन्धकार के विस्तार को पी रहे दिये।

30–10–1959

नीम के फूल

नीम के फूल
दूध की फुटकियों-से झरे
मुलायम-मुलायम,
कठोर भूमि पर बिखरे;
जैसे कोई
प्यार से शरीर स्पर्श करे,
दुखों से तनी हुई
नसों की थकान हरे।

22-10-1959

वसन्त आया

वसन्त आया :
पलास के बूढ़े वृक्षों ने
टेसू की लाल मौर सिर पर धर ली।
विकराल वनखण्डी
लजवन्ती दुलहिन बन गयी,
फूलों के आभूषण पहन आकर्षक बन गयी।
अनंग के
धनु-गुण के भौरें गुनगुनाने लगे,
आम के अंग
बौरों की सुगन्ध से महक उठे,
मंगल गान के सब गायक पखेरू चहक उठे।

22-10-1959

मेघ गये और गये नाचते मयूर

मेघ गये और गये नाचते मयूर,
हंस गये दूर और गीत गये दूर।

छन्द गये टूट और बन्ध गये छूट,
एक एक टूट गये सूत्र भी अटूट।

दैव हुआ क्रूर और काल हुआ क्रूर,
रंग उड़ा और उड़ा रूप का कपूर।

26–10–1959

हमारी आँखें

हमारी आँखें जहाँ जिस किसी फूल को देखती हैं,
वृन्त से बिना तोड़े ही, उसका सौन्दर्य उतारकर,
हमारे मनोभवन में सहर्ष ले आती हैं,
और हम उस फूल को चूमते हैं, प्यार करते हैं,
जैसे वह हमारा हो, केवल हमारे लिए खिला हो
किसी पेड़–किसी लता–किसी देह में।
तभी तो हमारा मौन मोरपंखी
और हमारा गान इन्द्रधनुषी है।

31–10–1959

तुम साथ थे

तुम साथ थे,
मैं चल रहा था,
मैदान में,
नंगे पाँव,
पिता के साथ
पुत्र की तरह,
मेघ के साथ
मोर की तरह,
शरद के साथ
हंस की तरह,
तुमसे सुनता
तुम्हारे श्लोक
सुन्दर सुडौल,
घोड़ों की तरह
वेग से दौड़ते,
कन्धे ताने,
शीश उठाये,
पुट्ठों से पुष्ट,
चाल में दक्ष,
नथुने फुलाये,
फेन छोड़ते
स्वेद से तर,
सूर्य के
घोड़ों से तेज,
उनसे श्रेष्ठ,
केसरिया
अयाली–
सुन्दर, सफेद,
लम्बे कान–
बड़ी आँखों के
प्रकाश फैलाते!

उनमें से एक
मैंने माँगा,
तुमने कृपा की,
मुझे दिया,
मैंने सिर झुकाया,
प्रणाम किया,
मैंने पकड़ा
और सवार हुआ
देखा तुम
अन्तर्धान हो गये।

वाल्मीकि!
मेरे पिता!
मेरे मेघ!
मेरे शरद!
मैं
तुम्हारा कृतज्ञ,
घोड़े पर सवार,
अवनी अम्बर,
अनिल, अनल,
नीलम सागर,
मन के भीतर,
मन के बाहर,
सब जगह,
घूम रहा हूँ।

तुम्हारी कृपा,
तुम्हारा आशीष
तुम्हारा श्लोक,
मेरे साथ है।

2-11-1959

समुद्र वह है

समुद्र वह है
जिसका धैर्य छूट गया है
        दिक्काल में रहे-रहे।

समुद्र वह है
जिसका मौन टूट गया है,
      चोट पर चोट सहे-सहे।

14-11-1959

हम हैं वहाँ

हम हैं वहाँ
अन्धकार के पाँव जहाँ
पड़ते हैं निरन्तर
ठाँव-कुठाँव
और हम पड़ने देते हैं
उन्हें जी भर,
अपने ऊपर;
कि प्रकाश भी इसी ओर आये,
एक न एक दिन–
पाँव टिकाये हमारे ऊपर,
अन्धकार को भगाये,
और हम,
दुख के बाद
सुख को छुएँ जी भर,
निर्विवाद
हम जिएँ निरन्तर।

14–11–1959

नाव बाँधकर

नाव बाँधकर
चला गया है जीवन का मल्लाह;
चढ़ी नदी से
उमड़ रही है बँधी नाव की आह!

भूमि छोड़कर
चला गया है सूरज का आलोक;
अन्धकार से उमड़ रहा है
        खिन्न भूमि का शोक!

15-11-1959

शब्दों की कतार के पीछे

शब्दों की कतार के पीछे,
ओट में खड़ा
मैं बोलता हूँ तुमसे!

सारसों की पाँत के पीछे,
ओट में खड़ा
मैं बोलता हूँ तुमसे!

15–11–1959

सबसे आगे

सबसे आगे
हम हैं
पाँव दुखाने में;
सबसे पीछे
हम हैं
पाँव पुजाने में।
सबसे ऊपर
हम हैं
व्योम झुकाने में,
सबसे नीचे
हम हैं
नींव उठाने में।

15-11-1959

हमारे रंगीन बसन्ती फूलों की

हमारे रंगीन बसन्ती फूलों की
असंख्य सुगन्धित अन्धी आवाजें
हमारे ताँबे और काँसे के कण्ठों से
निर्बाध, निरन्तर,
निकलती हैं उद्विग्न होकर बाहर
कि मृग से बड़ी आँखें–
गरुड़ से तीक्ष्ण दृष्टि माँगें,
कि वे
तब आगे चलें, तुम तक पहुँचें।
किन्तु अभाग्य हमारा
कि असमर्थ सुगन्धित आवाजें
हमारे ही होठों से छँटकर,
हमारी ही गच पर
टूट जाती हैं बेबस,
काँच की जैसी चीजें।
कह पाते नहीं हम जो हमें कहना है।
चकित रह जाते हैं देखते हम
टूटती असंख्य अंधी आवाजें।

16–11–1959

जब कोई कहता है मुझसे

जब कोई कहता है मुझसे :
छल किया है तुमने धूप के साथ,
हर ली है तुमने उसकी चमक,
कर दिया है तुमने उसे बूढ़ा,
यही कहता हूँ तब मैं उससे :
झूठ है उसका यह आरोप;
झूठ है उसका यह लांछन।
किन्तु तत्काल
मेरा ही तीव्र विवादी स्वर
तड़पकर कहता है मुझसे :
देख लो न, धूप बुढ़ा गयी है
चमकती चाँदी कलौंछ खा गयी है–
और मैं सिर शर्म से झुका लेता हूँ।

17–11–1959

नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है

नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है
जो पहाड़ से मैदान में आयी है
जिसकी जाँघ खुली
            और हंसों से भरी है
जिसने बला की सुन्दरता पायी है!

पेड़ हैं कि इसके पास ही रहते हैं
झुकते, झूमते, चूमते ही रहते हैं
जैसे बड़े मस्त नौजवान लड़के हैं!

नदी म्यान से खिंची एक तलवार है
जो मैदान में लगातार चलती है
जिसकी धार तेज
            और बिजली से भरी है
जिसने बला की चंचलता पायी है!

कूल हैं कि इसको पास ही रखते हैं
जी–जान से इसे प्यार ही करते हैं
जैसे बड़े कुशल समर–शूर सैनिक हैं!

17–11–1959

केन किनारे

केन किनारे
पल्थी मारे
पत्थर बैठा गुमसुम!
सूरज पत्थर
सेंक रहा है गुमसुम!
साँप हवा में
झूम रहा है गुमसुम!
पानी पत्थर
चाट रहा है गुमसुम!
सहमा राही
ताक रहा है गुमसुम!

17–11–1959

न छुए आकाश मुझे

न छुए आकाश मुझे
न छुए वातास,
छुए तो बस छुए मुझे
रूप का प्रश्वास,
पौ फटे का हास।

21–11–1959

असीम सौन्दर्य की एक लहर

असीम सौन्दर्य की एक लहर,
नदी से नहीं–
                समुद्र से नहीं–
देखते ही देखते
उमड़ी तुम्हारे शरीर से,
छापकर छा गयी
फैल गयी मुझ पर!

21–11–1959

इकला चाँद

इकला चाँद
असंख्यों तारे,
नील गगन के
खुले किंवाड़े;
कोई हमको
कहीं पुकारे
हम आएँगे
बाँह पसारे।

21-11-1959

दूब सिहरी

दूब सिहरी
और गिर ही गया मोती
          स्वप्न जैसा।
इस हवा को सह न पाया,
दूब की सिहरन लिये मैं
          लौट आया।

22-11-1959

छाँह की छतुरी फटी

छाँह की छतुरी फटी
आलोक बरसा।
अब मिला जिसके लिए
मैं नित्य तरसा।

22-11-1959

अकथ्य को हमने कहा नहीं

अकथ्य को हमने कहा नहीं,
असत्य को हमने सहा नहीं।
कथ्य को हमने सँवारा
            तब कहा,
सत्य को हमे दुलारा
            तब सहा।

22–11–1959

आओ भी

आओ भी, चलें,
फूल को छोड़कर
गन्ध के साथ,
आग की खोज में
रात को जीतकर जियें!
आओ भी, चलें,
शब्द को छोड़कर
अर्थ के साथ,
मर्म की खोज में
सिन्धु में डूबकर जियें!
आओ भी, चलें,
वेणु को छोड़कर
नाद के साथ,
गूँज की खोज में
देश में गूँजकर जियें!

23–11–1959

टुइयाँ थी एक चतुर बोल गयी

टुइयाँ थी एक चतुर बोल गयी
दुर्दिन में छन्द-अर्थ खोल गयी

सागर पर एक तड़ित तैर गयी
मिनटों में अन्धकार पैर गयी

आया था संकट घन मार गया
फूलों की छड़ियों से हार गया

23-11-1959

दर्द था एक

दर्द था एक
जो तुमने दिया,
हजार सुखों के बीच
जो मैंने पिया,
रात में तड़पा
और दिन में जिया,
न किसी ने जाना
तुमने क्या किया।

23–11–1959

दल-बँधा मधुकोष-गन्धी फूल

दल-बँधा मधुकोष-गन्धी फूल
मन्दिर मौन का है,
रूप, जिसकी अंजली से,
काल की साँकल हटाकर खुल गया है।
रश्मियों का राग-रंजित
रथ यहीं पर रुक गया है।
गन्ध पीने के लिए
नभ भी यहाँ पर झुक गया है।

30-11-1959

ओस के संवेद्य मौनाकाश में हो

ओस के संवेद्य मौनाकाश में हो
या सुगन्धों की सुखावह साँस में हो,
हो न हो यह जिन्दगी मेरी
कहीं अटकी हुई है।
छोड़ता हूँ—छोड़ती मुझको नहीं
तलवार मेरी।
बह रही है धार मेरी
उठ रही ललकार मेरी।

1–12–1959

एक बड़ी-सी नीली चिड़िया

एक बड़ी-सी नीली चिड़िया
                पंख पसारे,
उड़ने से मजबूर है,
नील गगन से दूर है!
गहरी नीली आँख बड़ी-सी,
                पलकें खोले,
मुँदने से मजबूर है।
आँसू से भरपूर है।

1-12-1959

हम यहीं रहते हैं

हम यहीं रहते हैं
न पूछो : कहाँ?
मनस्वी आकाश
के नीचे,
          नदियों
पहाड़ों के बीच,
दुधार नदियों के साथ,
          खेलते,
          कूदते,
हँसते-गाते,
जीते।
कोई है
          जो हमारी
बराबरी कर सके।

1-12-1959

ठहर जाओ

ठहर जाओ
यहीं क्षण भर,
एक गहरी साँस लो–
नि:श्वास छोड़ो
मौन खोये पत्थरों पर
हाथ फेरो,
आँख खोले
भुरभुरा आकाश हेरो,
होंठ से सुनसान चूमो।
इस जगह पर वह मिली थी
जो प्रकृति की उर्वशी थी।

8–12–1959

चम्पई आकाश तुम हो

चम्पई आकाश तुम हो
हम जिसे पाते नहीं
बस देखते हैं;
रेत में आधे गड़े
आलोक में आधे खड़े।

20–12–1959

न कुछ, तुम एक चित्र हो

न कुछ, तुम एक चित्र हो
रंगो से उभर आये अंगों का
जवान
          जादुई
                    जागता
मन पर मेरे अंकित
मेरे जीवन की परिक्रमा का
अशान्त
          अतृप्त
                    अनिवार्य
रंगीन विद्रोह।

14-1-1960

न भूलेगी मुझे

न भूलेगी मुझे
नितम्बिनी,
स्रोतस्विनी,
जलधार से भरी नदी–
जिसने मुझे भेंटा,
मैंने जिसे भेंटा,
सूर्य ने घंटों हमें देखा।

25–2–1960

यही कहूँगा—

यही कहूँगा—
क्षण-प्रतिक्षण मैं यही कहूँगा :
जीत लिया सबको फूलों ने,
सबके सिर पर फूल चढ़े हैं।

28-2-1960

अरबी घोड़े पर सवार

अरबी घोड़े पर सवार
जैसे कोई राजकुमार
नदी में डाल गया हो अपना यौवन
और वह हो गयी हो निहाल
ऐसा है उसका यौवन
जो नगर में आज नाची
और कुहकी–
आँखों में भरे मदिरा
और हाथ में लिए कटार!

26–1–1960

छाँह छोड़कर चल दूँगा मैं

छाँह छोड़कर चल दूँगा मैं
लेकिन जाते-जाते, पहले,
तुम्हें फूल-फल दे ही दूँगा
मैं तरु हूँ—धरती का बेटा।

10-11-1960

पड़ गया है कनक-कामिनी नदी में

पड़ गया है कनक-कामिनी नदी में
मधुर-मालिनी रोशनी का लुभावना जाल
और अब फँस गयी है उसमें
सरल-गामिनी मछलियाँ
छोटे से छोटी,
बड़ी से बड़ी।
      मुक्ति की यह हर्ष-वाहिनी धारा
      मृत्यु की हो गयी है
      अन्ध-यामिनी कारा।
क्षुब्ध है यह समय का सन्तरी
सिर पर चमकता धूमिल ध्रुवतारा।

25-9-1960

कुछ लिखी-अलिखी कविताएँ

आग और बर्फ की वसीयत

मैं हूँ
        आग और बर्फ की वसीयत
मौत जिसे पायेगी
        जीवन से लिखी।

1-2-1961

मशाल का बेटा धुआँ

मशाल का बेटा धुआँ,
            गर्व से गगन में गया,
शून्य में खोया
कोई नहीं रोया।
मशाल की बेटी आग
            यहीं धरती पर रही,
        चूल्हे में आयी
        नसों में समायी।

25-2-1960

हम पात्र हैं

हम पात्र हैं किसी के
रख दिये गये यहाँ—
खाली,
कभी कुछ भरने के लिए;
कभी कुछ उँडेलने के लिए;
इच्छा के विरुद्ध बने
          और बनकर रखे रहने के लिए
न कुछ कहने के लिए :
न कुछ सुनने के लिए :
केवल काल के हाथ से टूटकर
बिखरने के लिए।

30–9–1960

आस्था का शिलालेख

मैं हूँ अनास्था पर लिखा
आस्था का शिलालेख
नितान्त मौन,
किन्तु सार्थक और सजीव
कर्म के कृतित्व की सूर्याभिमुखी अभिव्यक्ति;
मृत्यु पर जीवन के जय की घोषणा।

6–1–1961

बाँध अमल आलोक

बाँध अमल आलोक अलक से,
मौन मूँद दृग-दोष पलक से,
काल रहा तन तोड़ फलक से।

18-1-1961

कैसे जिएँ

कैसे जिएँ कठिन है चक्कर
निर्बल हम, बलीन है मक्कर
तिलझन ताबड़तोड़ कटाकट
हट्टी की लोहे से टक्कर।

18-1-1961

आवरण

आवरण के भीतर है एक आवरण और
भीतर के भीतर है एक आवरण और
भीतर के भीतर के भीतर है
            एक आवरण और
निर्विकार निरावरण दर्पण का,
जिसमें सब कूदते समाये चले जाते हैं।

1-2-1961

तुम मिलती हो

तुम मिलती हो
हरे पेड़ को जैसे मिलती धूप,
आँचल खोले,
        सहज
        स्वरूप।

8–4–1961

शाम चल दी

शाम चल दी
        प्रकाश के साथ
मौन छोड़कर पीछे गहरा,
केन पर,
        ठिठका, ठहरा।

8–4–1961

बादल ने मार दी बरछी

बादल ने मार दी
बरछी
        गाँव को,
और फिर चला गया;
लेकिन कुछ हुआ नहीं;
चमकी थी बिजली
सावन की रात में।

14–1–1961

भोगने दो मुझे

भोगने दो मुझे
लय न पा सकी, विलाप–व्याकुल
कविता की यातना।
भोगने दो मुझे
बलात् प्रताड़ित विकल बेबस
विचार की यातना।
भोगने दो मुझे
होंठ से अटकी क्रान्तिकारी
पुकार की यातना।
भोगने दो मुझे
अंधकार में जल रही मौन
मशाल की यातना
भोगने दो मुझे
आदमियों के बीच
आदमियों की बनायी हुई यातना।

20–10–1960

रंग नहीं

रंग नहीं
रथ दौड़ते हैं रंगीन फूलों के
        सांध्य गगन में।
        देखो–बस–देखो!
रंग नहीं
ध्वज फहरते हैं रंगीन स्वप्नों के
        सांध्य गगन में।
        झूमो–बस–झूमो!
रंग नहीं
नट नाचते हैं रंगीन छंदों के
        सांध्य गगन में।
        नाचो–बस–नाचो!

20–10–1960

खिला है अग्निम प्रकाश

खिला है अग्निम प्रकाश
        संध्याकाश में;
कमलवन की तरह नयनाभिराम,
प्रवाल-पँखुरियों के सम्पुट खोले,
क्षण पर क्षण
        बिम्बित-प्रतिबिम्बित होता,
दिगम्बरी दिशाओं के दर्पण में।

19–10–1960

वेतन

उड़ जाता है वेतन
जैसे गंध कपूर।

13–6–1961

सिसकती चिड़िया

अब भी है कोई चिड़िया जो सिसक रही है
नील गगन के पंखों में
            नील सिन्धु के पानी में;
मैं उस चिड़िया की सिसकन से सिहर रहा हूँ
वह चिड़िया मानव का आकुल अमर हृदय है।

16–7–1961

काल बँधा है

काल बँधा है
दिव–देवालय
के पाषाणी
वृषभ–कण्ठ से;
बधिर, अचंचल,
घंटे जैसा
मौन टँगा है
आसमान से
भू तक लटका;
मैं अनबजा
वही घंटा हूँ।

16–7–1961

तड़पती केन

रवि के खरतर शर से मारी,
क्षीण हुई तन-मन से हारी,
केन हमारी तड़प रही है
गरम रेत पर, जैसे बिजली
बीच अधर में घन से छूटी
तड़प रही है।

16-7-1961

हवा

हवा पहाड़ी झरने की झनकार हो गयी
आयी मेरे पास मुझे स्वीकार हो गयी।

16-7-1961

चोली फटी (एक)

चोली फटी सरस सरसों की
नीचे गिरा फागुनी लहँगा,
ऊपर उड़ी चुनरिया नीली,
देखी हुई पहाड़ी विवसन
आतप-तप्ता।

13-10-1961

रंग-रोर

न यह याद रहता है मुझे
न वह;
बस याद रहता है मुझे
रंग रोर :
फैलता फूलता फलता : अछोर;
डूबता हूँ जिसमें मैं
          और डूबती हो तुम :
एक दूसरे को अंक में समोये
          भाव से विभोर।

21-10-1961

सिंह अयाली नाज

हल चलते हैं फिर खेतों में
फटती है फिर काली मिट्टी
बोते हैं फिर बिया किसान
कल के जीवन के वरदान;
फिर उपजेगा उन्नत-मस्तक सिंह अयाली नाज
फिर गरजेगी कष्ट-विदारक धरती की आवाज।

23-7-1961

गींज गये कपड़ों सा

गींज गये कपड़ों-सा उतारा हुआ अम्बर है,
मैली हुई मौन शाम फैली है
              अनकही बातों की,
और हवा डूब गयी नावों के
              पाल लिये चलती है।
नाटकीय रंगों का रंगमंच सूना है
न ही कोई नर्तक है,
न ही कोई वादक है,
              न ही कोई गायक है;
हर्ष की हिलोरों को
              पाँव से दबाये खड़ा सैनिक है।
काई मढ़े पानी में सोयी कहीं शोभा है,
चंचला अचंचल है—चारों ओर—
केश खोले चिन्ता है।
धुएँ की अवस्था में देश-काल धुँधला है
मेरा मन ऐसी शाम देखकर सिहरता है,
रात जाने कैसी हो, मेरा मन डरता है।

31-7-1961

आओ न

आओ न,
गले मिलने;
फूल आये कनेर के तले
सघन छाँह में
खिलने।

18-1-1961

हम जियें न जियें दोस्त

हम जियें न जियें दोस्त
तुम जियो एक नवजवान की तरह,
खेत में झूम रहे धान की तरह,
मौत को मार रहे बान की तरह।
हम जियें न जिये दोस्त
तुम जियो अजेय इंसान की तरह
मरण के इस रण में अमरण
आकर्ण तनी
कमान की तरह।

9-8-1961

वह कवि था

वह कवि था, कवियों में रवि था,
मन से पंकज, तन से पवि था,
वह अपने युग का युगपति था,
गति के पार गयी वह गति था,
वह मानव का मानी स्वर था,
कालजयी वह धार प्रखर था,
वह जन के जीवन का दल था,
वह आलोकित नेह नवल था,
वह न रहा युग मौन हो गया
वह न रहा छवि गान सो गया
अब किरणों की माल म्लान है
खण्डित फूलों की कमान है।
यह भी क्या कटु विधान है
पा न सका कवि मान पान है।
दुर्मुख अन्धों का शासन है
कनबहरों का सिंहासन है।

19-10-1961

ऊपर ऊपर

ऊपर ऊपर
कली कली जब
काल छली चुन लेगा
तब इस भू पर
मूल मध्य से
वंश कली का फिर उपजेगा,
दल के दल केशर–पराग भर,
मुख–रस से भू–रुज–विराग हर,
गंध–दानकर प्रवहमान को
रूप–दानकर नव विहान को
काल कली के वृन्त–वृन्त पर
सुमन सहर्ष सदल विकसेगा।

10–11–1961

तन में बसी साँस

तन में बसी साँस में बह लो
तप में तपी धूप में दह लो
गह लो सुख दुख में भी रह लो
अपनी व्यथा आप से कह लो।

1961

पलाश

उन्नत पेड़ पलाश के
ढाल लिये रण में खड़े,
सम्मुख लड़ते सूर्य से
बाँह बली ऊपर किये
दुर्दिन में रहकर हरे,
छाँह घनी भू पर किये।

23–11–1961

हँस रहा है उधर

हँस रहा है उधर
धूप में खड़ा पूरा पहाड़
खोलकर मोटे बड़े होंठ।
        और चट्टानी जबड़े।
रो रहा है इधर
शोक में पड़ा जन–समुदाय
काटकर कामकाजी हाथ
        तोड़कर छाती तगड़ी।

10–9–1962

आतप-तपी सुमेरु-शरीरा

आतप-तपी सुमेरु-शरीरा,
नदी-नाद-नद-वाद-वादिनी
सिंधु-गँभीरा,
मूर्ति-पूर्ति की,
त्याग-तोष की तीरा,
सत्य सँवारी
धरा हमारी
विदा-वन्दना-सहित अर्चना
रवि को देकर
अन्तिम अरुणा की कर-कम्पित
करुणा लेकर
धावित आते अंधकार पर
जय पाने को सजग खड़ी है।

8-1-1962

नूतन का आलोक

नूतन का आलोक
पुरातन की बाँहों में नहीं बँधेगा,
यह अभिनव आलोक
            सभासद अथवा मंत्री
            उस संसद का नहीं बनेगा :
जिस संसद का
नाम काम गुण गौरव–गायन
पतझर को विस्तार दिये है
जिस संसद की दृष्टि भ्रष्ट है,
            सृष्टि कष्ट है,
जिस संसद को जन–मन–दोहन पुष्ट किये है।

8–1–1962

धूप में गड़ा धन

धूप में गड़ा धन कौन पायेगा?
धनी? चोर? उचक्का?
नहीं!
वह पायेगा खेतिहर किसान
जो सबको बाँट देगा।

25–2–1960

अविराम बज रही है

अविराम बज रही है ब्राजन स्वरों से
सघोष, काँसे की सरोष घण्टियाँ
अविराम हताहत हो रहा है तमांध
अमोघ ओजस्वी स्वरों से हारता।

न टूटो तुम

न टूटो तुम
बस झुको यों
कि चूम लो मिट्टी
और फिर उठो।

2-3-1961

न बुलाओ तुम मुझे

न बुलाओ तुम मुझे इस समय अपने पास
खोदना है अभी मुझे
आसपास उग आयी बेकार विचारों की घास,
तोड़ना है मुझे अभी
        भाव की भूमि की कुण्ठा के बाँस,
जोड़ना है मुझे अभी
टूट चले जीवन की एक एक साँस!
न बुलाओ तुम मुझे इस समय अपने पास।

26-7-1961

दिन झर गया

दिन झर गया
        जैसे फूल,
संध्या समय
        आकाश के
श्याम तरु से
        धरातल पर,
न रही गन्ध,
        न रही छटा,
आयी रात
        जैसे घटा
उमड़ आयी
        बरसात की,
खुली कबरी,
        अलक छटे,
कामिनी के
        ढँके कुच के
कनक-कलसे
        मेरु भू के,
यह त्रियामा
        त्रिया तम की,
वासना की
        अंधवामा—
मुझे अपने
        भरे भुज में
कसे उर से
        विवश-व्याकुल
छल रही है।

2-1-1962

हमने जितनी बार पुकारा

हमने जितनी बार पुकारा
दीवारों पर पाहन मारा
हिला न डोला मौन तुम्हारा
टूटा केवल दुर्ग हमारा।

5-1-1962

रची उषा ने ऋचा-दिवा की

रची उषा ने ऋचा दिवा की
निशा सिरानी;
सुख के आमुख खिले कमल-मुख,
पुलके प्रानी,
रूप अनूप धूप के धन के
खिले मुकुल से,
महिमा हुई मही की गोचर,
रज की रोचक;
भूचर के स्वर, खेचर के पर
भास्वर हुलसे;
जल में जगी ज्योति की रम्भा-
मल की मोचक।

12-1-1961

क्षण के संरक्षण के सनकी

क्षण के संरक्षण के सनकी
नहीं देखते आगे पीछे
रहते हैं क्षण की छतुरी के नीचे
कण का जीवन जी के
गण के रण से आँखें मीचे।

14-1-1962

याद?

याद?
है आवाज
पथ के पेड़ की,
राहगीरों के लिए
जो गये
        लौटे नहीं
        इस राह से!
वह
        सुबह की चाँदनी है
ओस से भीगी हुई
धूप का दर्पण लिये
ओट में गूँगी खड़ी।
वह
नदी के नील जल की वासना है
जो कगारों को
डिगाये जा रही है।

26–1–1962

यह ठगौरी ठाठ

यह ठगौरी ठाठ
क्षपणक बँधे ऋण के घाट
देखकर गणराज का यह साज
आ रही है लाज।

19–2–1962

मेरे मन की नदी

मेरे मन की नदी
        सदी के बृहत् सूर्य से चमक रही है
मेरे पौरुष का यह पानी दृढ़ पहाड़ से टकराता है
टूट-टूट जाता है फिर भी बूँद-बूँद से घहराता है
नृत्य-नाद की नटी तरंगों के छन्दों की
जय का ज्वार भरे गाती है कलहंसों से।

4-9-1962

देर हो गयी है दिवाकर को

देर हो गयी है दिवाकर को गये अदृश्य में
विवर्ण हो गया है सवर्ण तट पर खड़ा
        पूर्व का ऐरावत
निकट आ ही गया है वरौनियों से बेधता
        विकट अन्धकार
खुलकर फैल ही रहा है अब
        सविस्तार
                श्याम केश-भार,
चकित कर रहा है अब भी
        जल में जीवित
        डूब गये सूरज का
                अपराजित प्रकाश।

वायु चली

वायु चली अविजेय सैन्य की
हलचल दौड़ी,
नीड़ों से निकले प्रभात के जागे पंछी,
पंख पसारे फैल गयी ललकार लहर की,
धुआँ नहीं यह जमा हुआ
जीवन पिघला है दिशा-दिशा में,
फन काढ़े फुफकार-क्रूर-संहार
शिलाओं पर उमड़ा है,
नत होंगे ही अब अवनत
प्रलयंकर दानव,
हत होंगे ही अब अनहच
प्रलयंकर दानव,
आग-राग-रंजित स्वदेश का
महावीर का रक्तवेश है;
उत्तर के संकट से लड़कर
जय पाने को प्राण शेष है।
30-10-1962

सहज खोले

सहज खोले अतीन्द्रिय सुगन्ध के केश
टिमकते प्रकाश का पाल ताने प्रकृति
चलती चली जा रही है विस्मरण में
बही हो जैसे किसी की कोई नाव।
31-10-1962

अन्धकार में खड़े हैं

अन्धकार में खड़े हैं
        प्रकाश के प्रौढ़ स्तम्भ
एक नहीं, हजार
        इस पार–उस पार
कुएँ के मौन में डूबे स्तब्ध;
भूल में भूली नदी,
        हंस की चोंच में दबी
आकाश में चली जा रही है उड़ी
न जाने कहाँ–न जाने कहाँ,
रुई ओटती है दुनिया
स्वप्न देखती है झुनिया।

31–10–1962

सिन्धुग्राही मौन

सिन्धुग्राही मौन धीरज की बनी
        दृढ़ मूर्तियों का
काल–अविजित शिल्प–संवेदन मुखर है,
सुघड़–अंगी दीप्तियों के
        मिलन–चुम्बन का प्रहर्षण
कमल–वलयित भ्रमर–गुंजित
हृदयपुर में आज भी है।

31–10–1962

घर के बाहर खड़ी नीम

घर के बाहर खड़ी नीम की हरियाली पर
बैठे कौए आकर यहाँ शाम से पहले
एक साथ ही काँव-काँव करते हैं कर्कश
शान्ति भंग होती है उनके
कोलाहल से
वातावरण फटा रहता है जोर-जबर से
और नगर के अधिकाधिक आवारा गदहे
गला फाड़कर फेंक रहे हैं बम के गोले
आबादी घायल होती है तन की, मन की
अस्ताचल में मर जाता है कवि का सूरज;
मृत सन्नाटा छा जाता है अंधकार का।
इस मरने में भी हँसना पड़ता है मुझको
कर्म आदमी का करना पड़ता है मुझको।
12-11-1962

हरी घास का बल्लम

हरी घास का बल्लम
गड़ा भूमि पर
सजग खड़ा है
छह अंगुल से नहीं बड़ा है
मन होता है
मैं उखाड़ कर इसे मार दूँ
कुण्ठा को गढ़ में पछाड़ दूँ
जहाँ गड़े हैं भूले मुरदे
वहाँ गाड़ दूँ
14-11-1962

जल रहा है

जल रहा है
जवान होकर गुलाब,
खोलकर होंठे :
जैसे आग
गा रही है फाग।
4–11–1962

चिलम पी रहा है

चिलम पी रहा है
बूढ़ा हो गया कुँआ
नयी आयी धूप
हो गयी है धुँआ।
4–11–1962

जलाशय

जलाशय के
सौन्दर्य की बन्द हथेलियाँ
आज जब
मृणाल पर खुलीं
सूर्य ने
अलियों ने
तुमने
उन्हें चूमा
मैंने
तुम्हें चूमा
1962

तरल कोर

संतत अपने तरल कोर के संस्पर्शों से
काट रही है दृढ़ कगार को जल की धारा।
साँसें लेता हुआ समीरण प्रश्वासों से
तोड़ रहा है कण-कण का संसर्ग सहारा।
फूले खेतों से फिर भी फूली है छाती,
सरसों को उसने, सरसों ने उसे सँवारा।
देख रहा हूँ उसे देखकर मैं अपने को,
भूल रहा हूँ अन्तकाल का मैं अँधियारा।

1957

आँख खुली

आँख खुली
कर उठा
करेजा कड़का।
धूल झाड़कर
सोता मानव
फड़का।
रात ढली
दिन हुआ
उजेला दौड़ा।
ताबड़तोड़
चला, बज उठा
हथौड़ा।

छिपी भी

छिपी भी
न छिपी रह सकी हो तुम,
भावों में अपने
खुल गयी हो तुम,
जैसे खुल गयी आँख
सजीव स्वप्न से भरी
चाँदनी दर्पण में
कोई देखे, या न देखे,

मैं देखता हूँ तुम्हें।
मौन भी
न मौन रह सकी हो तुम
वसन्त में अपने
मुखर हो गयी हो तुम
जैसे मुखर शंख-से बजते रंग
फूल की मौन पँखुरियों से,
कोई सुने या न सुने,
मैं सुनता हूँ तुम्हें।

20-10-1960

धृष्ट अंधकार

घण्टियों की आवाज से घायल
कराहता,
आह भरता
धृष्ट अंधकार
बेघरबार
नापता डगों से वार-पार
ठहर गया है
संसार के ऊपर
(जैसे शोक का अशुभ समाचार)

जैसे कोई सितरिया

जैसे कोई सितरिया द्रुत में सितार को बजाये,
लय में पहुँचकर वह स्वयं लय हो जाये,
फिर न वह सितार को बजाए–
            चलता हाथ ही बजाये,
और वह संगीत – झंकृत संगीत
            तात्विक संगीत हो जाये,
केवल आनन्द ही आनन्द लहरे और लहराये,
केवल शरीर ही उसका
            सितार से टिका रह जाये,
ओ मेरे संसार!
मैं यही तुमसे पाऊँ
जब तक मैं जियूँ, तुम्हें बजाऊँ
न मैं रुकूँ न कोई रोक पाये
आयु मैं अपनी इस तरह बिताऊँ।
20-10-1960

नदी से दूर

नदी से दूर एक सिन्धु है समतल
सिन्धु से दूर एक अन्य प्रेत है नभ का,
हे भगवान, मेरी आँख के रोग को सहारा दो
कहीं ऐसा न हो कि असीम दिक् और प्रलम्ब पुरातन
मेरा हृदय निचोड़ लें
और इस भयंकर भूमि पर
मेरे छोटे शंख को
बड़ी हवा सस्वर मार डाले।

अनूदित

लुढ़कता रहा हूँ मैं

लुढ़कता रहा हूँ मैं अन्दर आकाश की सलवटों में
मार्ग का तल था एक स्वप्न के समीप
तो भी आसमान के चौड़े मुख से
मैंने खरोंच ली अपने आँखें बाहर
देखने के लिए
वाष्प के मृदुल उरोजों के पार
और मैंने सुन लिये बिगुल बजते
भौतिक स्वरों के।

अनूदित

मैंने खोला

मैंने खोला बन्द कोठरी के किवाड़ का पल्ला,
बरसों बाद, सुनी मैंने जड़ लकड़ी की चर्र-मर्र
सोचा था मैंने
कोई निकलेगा महान वहाँ भीतर से
जिसे देखकर प्रमुदित हो जाऊँगा मैं
किन्तु है मुझे खेद
कि वह निकला एक बौना
मेरी मुखाकृति का
और मैं लजा गया अपने से।

1-11-1960

नहीं आया जहाँ कोई

नहीं आया जहाँ कोई नृत्य करने,
वहाँ आओ काल की गहराइयों में
मुक्त हो कर प्यार करने।
नहीं आया जहाँ कोई दीप धरने
वहाँ आओ मौन तम की घाटियों में
ज्योति की झंकार भरने।

23-11-1960

दिन है कि

दिन है कि
हंस हलाहल पर
मंद-मधुर तिर रहा है
दिन है कि
चरने गयी गाय का
सफेद बछड़ा
माँ की प्रतीक्षा में बैठा है।
9-1-1961

ढेर लाग दिये हैं हमने

देर लगा दिये हैं हमने
पुलों के–
पहियों के
अपनी सदी के उस पार जाने के लिए
लेकिन पुल टूटे
पहिये टूटे हैं।
26-1-1961

बजते उन्हीं के अब नगाड़े हैं

बजते उन्हीं के अब नगाड़े हैं
पढ़ते जो मरण के पहाड़े हैं
अशरण के शरण के अखाड़े हैं
संकट को मार-मार माँड़े हैं
केतु वही कीरत का गाड़े हैं।
24-7-1961

चोली फटी (दो)

चोली फटी सरस सरसों की
लहँगा गिरा फागुनी नीचे
चूनर उड़ी अकासी नीली
नंग हुई पहाड़ी देखो।

30–10–1960

पेड़ और हम

पेड़ अमावस के अंधकार में लोप
जमीन पर खड़े जरूर हैं
जैसे हम शोक के समुद्र में डूबे
अतल में पड़े मजबूर हैं।

30–10–1959

विपर्यस्त दिशाएँ

चक्र चल रहा है

चक्र चल रहा है वेग से अत्यधिक
प्रमाद से कुचल दिये गये हैं पथिक
दुखान्त के रथ का सारथी है वधिक।

आग नाव में भरकर सूरज

आग नाव में भरकर सूरज चला गया है,
आसमान के गुम्बद को जाला जकड़े है
पाँवों के नीचे धूमिल धरती उदास है।

30–10–1962

धूप पिये पानी लेटा है

धूप पिये पानी लेटा है सीना खोले
नौजवान बेटा है युग के श्रमजीवी का।

30–10–1962

प्राप्य से परे

प्राप्य से परे अप्राप्य की ओर
　　चला जा रहा है मनुष्य
समाधि में नहीं–
　　अजान के ज्ञान में समाने
संजीवन स्तरों को पाने
भले ही मनुष्य हो मनुष्य का घातक
राष्ट्र ही राष्ट्र के अनिष्ट का संस्थापक
　　और भूमि हो स्वयं से भयभीत
चाहे सर्वत्र प्रसारित हो
अनरीत

29–3–1963

पड़ने को पड़ गयी है

पड़ने को पड़ गयी है
लाल पर श्याम की सुकेशी छाया
उतरने को उतर गया है जलती मशाल पर
　　आषाढ़ का उन्मादी मेघ,
घिरने को घिर गया है सदेह स्वप्न के
पृष्ठ पर – बाहुओं पर अंधकार,
फिर भी लाल है लाल अब भी, श्याम से अविजित
मशाल है मशाल, मेघ से अविजित
स्वप्न है स्वप्न, अंधकार से अविजित

24–7–1963

तरंगित सर्प

अथाह का नील
अब हो गया है कुपित
अशान्त के अस्तित्व के आक्रोश से व्यथित
कि तैरने लगे हैं हवा में तरंगित सर्प

28–3–1963

तुम्हें पाने के लिए

सार्वजनिक भीड़ में भी
विभाजित हूँ मैं
तुम्हें पाने के लिए,
अविभाजित एकाकीपन में
बह रही धारा को
बाँध पाने के लिए।

10–10–1963

तुम मेरे लिए नहीं हो

तुम मेरे लिए नहीं हो—न हो सकती हो
कि मैं अँगुलियों से हवाएँ काटता रहता हूँ
खुशनसीब हैं वह उड़ते चले जा रहे पखेरुओं के जोड़े
मेरी दिशा से ठीक विपरीत जिनकी दिशाएँ हैं।

10–10–1963

कोई है कि देखे

कोई है कि देखे
मेरा मनुष्य पत्थर हो गया है
बहार के दिनों में

10-10-1963

सलीब

मुरदों की जमीन पर गड़े हैं सलीब
कि उन्हें उखाड़ रही हैं हवाएँ।

10-10-1963

ऐसा भी हुआ है कभी

ऐसा भी हुआ है कभी
कि सूर्य मरा हुआ पैदा हुआ है सवेरे
और आदमियों ने फिर भी
अंधकार को ललकारा है
कि वह भाग गया है
दुम दबाये हुए कुत्ते की तरह

17-10-1963

शमशेर मेरा दोस्त

(एक)

शमशेर–मेरा दोस्त!
चलता चला जा रहा है अकेला
कंधे पर लिए नदी,
मूँड़ पर धरे नाव!

15–10–1963

(दो)

वहाँ उस आईने में खड़ा है मेरा दोस्त–शमशेर!
उम्र–कैद का अकेला अपराधी
        बाहर न निकलने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ!

15–10–1963

आश्चर्य है

आश्चर्य है कि वह है–
    ढहा नहीं;
सत्य की समाधि पर
    अब भी
अजेय खड़ा है।

19–10–1963

अजीब बात है

अजीब बात है कि कुत्ते उस पर भूँकते हैं
और आदमी उस पर थूकते हैं
और एक ही वह
कि उसी रास्ते चलता जला जा रहा है बेखबर।

19–10–1963

सत्य और असत्य

सत्य कहीं है—कहीं नहीं है
असत्य
        सब कहीं हैं—
घर हो—या बाहर
संसद या अदालत!

19–10–1963

न आदमी है—

न आदमी है—
        न आदमी की छाया
उसको मैंने आदमियों के विरोध में खड़ा पाया
न वह पुलिस की पकड़ में आया
न वह न्याय की जकड़ में आया

20–10–1963

उसे घमंड है कि....

उसे घमंड है कि वह नेक औरत है
मुझे अफसोस है
उसकी इस नेक नादानी पर।

30–10–1963

उसका न्याय

उसका न्याय सत्य पर आधारित हुआ करता है
लेकिन असत्य हँसता है :
कि न्याय सत्य को नहीं पकड़ सका।

30–10–1963

न्याय बाँटती है....

न्याय बाँटती है काठ की कठोर कुरसी
पाने वाला असन्तुष्ट–
न पाने वाला असन्तुष्ट!

30–10–1963

हम हो गये हैं बौने

हम हो गये हैं बौने
और कीमतें हो गयी हैं सुरसा
वस्तुएँ हो गयी हैं
पहुँच से परे

10–12–1963

एक ओर....

एक ओर बनता ही चला जा रहा है
          निर्माण का हिन्दुस्तान
दूसरी ओर गिरता ही चला जा रहा है
          ईमान का हिन्दुस्तान

12–12–1963

कंठ से नहीं

कंठ से नहीं–
अब पाँव से निकलता है संगीत–
        हाथ से उमड़ता है संगीत–
अवश्यम्भावी है
        नाश पर निर्माण की जीत!

14–12–1963

ठप्प कर दिया गया है

ठप्प कर दिया गया है अब
बच्चों का प्रजनन,
जन्म के बाद का जीना हराम हो गया है

12-12-1963

अब तक सुबह नहीं हुई है

अब तक सुबह नहीं हुई है मेरी घड़ी में
लेकिन सूर्य चढ़ गया है सिर पर
        नेता की घड़ी में।

11-12-1963

सड़कें

अब यह जो बन रही हैं सड़कें यहाँ-वहाँ
बनती नहीं कि बिगड़ जाती है जहाँ-तहाँ

11-12-1963

अब इंसान को....

अब इंसान को मार कर ले गया है हैवान
बेकार हो गये हैं
उसके कोट पतलून
ज्ञान और गुमान के
शिरस्त्राण।

13-12-1963

स्वर्ग

किसी ने कहा : स्वर्ग यहीं है।
मैंने कहा : हाँ—
क्योंकि आदमी मर चुका है
और अब स्वर्ग यहीं है।

21-3-1964

गोबर-गनेश और महेश

मान पाते हैं गोबर-गनेश
गौरव नहीं पाते हैं महेश

21-3-1964

डूबती आँखों से

डूबती आँखों से बह रहा है पानी—
निराधार पानी
कोई देवता है विकल
जो भीतर रो रहा है
आदमी को देखकर मरणासन्न....

15–3–1964

वर्तमान

अतीत की संतान है वर्तमान
भविष्य का पिता है वर्तमान

14–12–1963

मैं जिऊँगा

मैं जिऊँगा
कल भी, परसों भी,
और भी,
बरसों भी,
लेकिन अब भूमि में गड़कर नहीं,
पाँव से दबकर नहीं,
चेतक की टाप रखकर,
डटकर लड़कर,
चाँद के सिर पर चढ़कर!

15–3–1964

मैंने कुछ पा लिया है

मैंने कुछ पा लिया है तुमसे
जो मान और गौरव से बड़ा है

दयालु हो गया है दीन

दयालु हो गया है दीन
          दान देते-देते,
दीन हो गया है क्षीण
                    दान लेते-लेते,
असह्य है यह व्यवस्था
   दयालु और दीन की मर्म-कथा

10-4-1964

मित्र

मित्र नाम है सूर्य का
लेकिन तुम कोयला हो मेरे मित्र!
          वर्तमान की जठराग्नि में जलने के लिए

24-4-1964

गोद में बह रही नदी

टूटी हिम की टेक

टूटी हिम की टेक
        हिंडोले वन के डोले,
जागे जोगी शैल
        मनोभव लोचन खोले।
लोल हुई कल्लोल कामिनी कूल सुहाये
गूँजे छवि के छंद क्षमा के ऋतुपति आये।

30–7–1962

तुम्हारे जन्म-दिन पर

निकल आया है
        मेरी खामोश निगाहों से
बचपन की हँसी का फौवारा
तुम्हारे जन्म–दिन पर
        तुम्हें देने के लिए।

24–12–1961

तुम पड़ी हो शान्त

तुम पड़ी हो शान्त सम्मुख
स्वप्नदेही दीप्त यमुना
        बाँसुरी का गीत जैसे पाँखुरी पर
पौ फटे की चेतना जैसे क्षितिज पर
मैं तुम्हें अवलोकता हूँ।

21–9–1962

तुम आ गयी हो

तुम आ गयी हो मेरे अस्तित्व में
          अपने अस्तित्व से निकलकर
भरपूर बढ़ रहे अपने व्यक्तित्व के साथ
जहाँ व्याप्त हूँ मैं
              वहाँ व्याप्त होने के लिए
निरभ्र नीलिमा के नीचे
पृथ्वी के साथ प्रदक्षिणा करने के लिए
त्रिकाल के साथ
          जप और जाप करने के लिए
दृश्य और अदृश्य में
श्रव्य और अश्रव्य में
ज्ञेय और अज्ञेय होकर सर्वत्र विद्यमान रहने के लिए।

22–3–1963

लाल हो गया है

लाल हो गया है, और भी अधिक लाल
षोडशी के सलज्ज स्वभाव से
खुलते देखकर खिलते अंगों का दुराव।

27-4-1963

चली गयी है कोई श्यामा

चली गयी है कोई श्यामा,
आँख बचाकर, नदी नहाकर
काँप रहा है अब तक व्याकुल
    विकल नील जल।

31-10-1962

उसे देखना

उसे देखना
    न जाने किस ज्वार में बह जाने के समान है
उसे भेंटना
    न जाने किस छंद में कस जाने के समान है
उसे चूमना
    न जाने किस फूल से डँस जाने के समान है

22-4-1963

सब कुछ प्राप्य है उसे

सब कुछ प्राप्य है उसे
        जो अप्राप्य है तुम्हें
फिर भी वह दरिद्र है
        मनुष्यता के अभाव में
जो तुम्हारे पास अकूत है

24-4-1964

दूध का धोया

बड़ा दूध का धोया है वह
कि उसे गालियाँ देती हैं दीवालें
सड़क के किनारे खड़ी।

24-4-1964

बहुत दिन हो गये हैं–

बहुत दिन हो गये हैं तुम्हें दर्पण को देखे
न आओगी क्या अब
        उसमें सदेह समाने।
तुम्हारी प्रतीक्षा में वह
        दीवार से वहीं टिका खड़ा है।

24-4-1964

ऐश्वर्य की प्रदर्शनी

देख ली मैंने उसके ऐश्वर्य की प्रदर्शिनी
कि वह फीकी है
अबोध शिशु की हँसी के सामने

24-4-1964

पहाड़ और नदी

मैं पहाड़ हूँ
और तुम
मेरी गोद में बह रही नदी हो

24-4-1964

अनर्थ हो गया है

अनर्थ हो गया है अर्थ की अभ्यर्थना में
मनुष्य खो गया है मनुष्य की जल्पना में

26-4-1964

उजाले में जाला

जाला लग गया है उजाले में :
अतीत के चित्र देखते-देखते।

24-4-1964

विकट है यह

विकट है यह सघन अंधकार का झुरमुट
कि मैं चला आऊँगा फिर भी
तुम्हारी पुकार के बने पथ से
तुमसे मिलने
नदी से कहकर :
कि वह बहे, जहाँ बहती है
दिये से कहकर
कि वह जले, जहाँ जलता है
फूल से कहकर
कि वह खिले, जहाँ खिलता है

28-4-1964

न आया वह

न आया वह
जिसे आना था मेरे पास
फूल का गुलदस्ता भेंट का लिए
खोल दिया था जिसके अस्तित्व के लिए
मैंने अपना अस्तित्व

24-4-1964

पुकार रहे हो क्या तुम

पुकार रहे हो क्या तुम
प्रतीक्षा में वक्ष का द्वार खोले
बाँसुरी की गूँज पर वहाँ आने के लिए?

28–4–1964

साठगाँठ

आलोक की हो गयी है
अंधकार से साठगाँठ
कौन है कि अब अंधकार का उद्‌घाटन करे?

30–4–1964

दर्पण में खड़ी हो तुम

दर्पण में खड़ी हो तुम
वसन्तोत्सव की मुद्रा में
फेंककर पीछे
शीश से उतरकर नीचे जाता अंधकार
देखकर मुझे हो रहा है तुमसे प्यार।

6–5–1964

महाकवि रवीन्द्रनाथ के प्रति

कवि! वह कविता जिसे छोड़कर
चले गये तुम, अब वह सरिता
काट रही है प्रान्त-प्रान्त की
दुर्दम कुण्ठा—जड़ मति-कारा
मुक्त देश के नवोन्मेष के
जनमानस की होकर धारा।

काल जहाँ तक प्रवहमान है
और जहाँ तक दिक्-प्रमान है
गये जहाँ तक वाल्मीकि हैं
गये जहाँ तक कालिदास हैं
वहाँ—दूर तक प्रवहमान है
आँसू-आह-गीत की धारा
तुमने जिसको आयुदान दी
तुमने जिसका रूप सँवारा।
आज तुम्हारा जन्म-दिवस है
कवि, यह भारत चिरकृतज्ञ है।

8-5-1961

खजुराहो के मन्दिर

चंदेलों की कला-प्रेम की देन देवताओं के मन्दिर
बने हुए अब भी अनिंद्य जो खड़े हुए हैं खजुराहो में,
याद दिलाते हैं हमको उस गये समय की
जब पुरुषों ने उमड़-उमड़कर—
रोमांचित होकर समुद्र-सा,
कुच-कटाक्ष वैभव-विलास की
कला-केलि की कामिनियों को
बाहु-पाश में बाँध लिया था,
और भोग-संभोग-सुरा का सरस पानकर,
देश-काल को, जरा-मरण को भुला दिया था।

चले गये वे कामकण्ठ-आभरण पुरुष-जन;
चली गयीं वे रूप-दीप-दीपित-बालाएँ;
लोप हुईं वे मदन-महोत्सव की लीलाएँ;
शेष नहीं रह गयीं हृदय की वे स्वर-ध्वनियाँ!

किन्तु मूर्तियाँ पुरुष जनों की
और मूर्तियाँ कामिनियों की
ज्यों की त्यों निस्पन्द खड़ी हैं उसी तरह से
देव-मन्दिरों की दीवारों पर विलास के हाव-भाव से।

काल नहीं कर सका उन्हें खण्डित कृपाण से,
किन्तु किसी दुर्धर मनुष्य ने
गदा मारकर कहीं-कहीं पर तनिक-तनिक-सा तोड़ दिया है;
और आज तक इसीलिये वे
      उसे कोसती हैं क्षण-प्रतिक्षण।

नर हैं तो आजानु-बाहु उन्नत ललाट–
रागानुराग-रंजित शरीर हैं,
अधर-पान, कुच-ग्रहण,
      और आलिंगन में आसक्त लीन हैं।

तिय हैं तो आकुलित केश-पट-नटी-वेश,
कामातुर-मद विह्वल-अधीर हैं,
सदियों से पुरुषों की जाँघों पर बैठी करती विहार हैं।

इन्हें नहीं संकोच-शील है;
यह मनोज के मनो लोक के नर-नारी हैं,
आदि काल से इसी मोद के अधिकारी हैं;
चाहे हम-तुम कहें इन्हें, ये व्यभिचारी हैं!

13-4-1957

केदारनाथ अग्रवाल
का
रचना-संसार